

रसपरित्याग तपका लक्षण कहते हैं--

दूध, दही, इक्षु--गुड, खंड, शर्करा आदि, तेल और धी इन छह रसोका जो पूर्णरूपसे या इनमे-से एक-दो आदिका त्याग है उसे रसपरित्याग कहते हैं। मूँग आदिका और शाकका त्यागना या किसी दाल, शाकर आदिके त्यागनेको भी रसपरित्याग कहते हैं। आचाम्लका, अति पके हुए और गरम जल मिले भातका, या केवल भातका, या अल्प जलवाले भातका, या रूक्ष आहारका, या शीतल आहारका खना भी रसपरित्याग है। श्लोकके घापिड शब्दसे श्रेष्ठ, इष्ट रूप, रस, गन्ध और स्पर्श युक्त उत्तम अन्न, पान, फल, औषध आदि तथा रूप, बल, वीर्य, तृष्णा और मदको बढ़ानेवाला तथा महान आरम्भ और प्रवृत्तिके कारणभूत स्वादिष्ट आहारको ग्रहण नहीं करना चाहिए। इस तरह रसपरित्याग अनेक प्रकारका होता है ॥२७॥

विशेषार्थ--भगवती आराधना ( गा. २१५-२१७ ) में रसपरित्यागमें उक्त प्रकारसे त्याग बतलाया है। तत्त्वार्थवार्तिक आदि सभी प्राचीन ग्रन्थोंमें रसपरित्यागमें घी, दूध, दही, गुड-शक्कर और तेलके त्यागका मुख्य रूपसे निर्देश मिलता है क्योंकि इनकी गणना इन्द्रियमदकारक वृष्य पदार्थोंमें है। उमास्वातिके तत्त्वार्थाधिगम भाष्य ( १९-१९ ) में रसपरित्यागके अनेक भेद हैं--जैसे मद्य, मांस, मधु और मक्खन इन विकारकारी रसोका त्याग और विरस रूक्ष आदि आहारका ग्रहण। टीकाकार सिद्धसेन गणिने आदि पदसे दूध, दही, गुड, धी और तेलका ग्रहण किया है। इससे प्रतीत हाता है कि दोनों परम्पराओंमें रस से इन पाँचोका मुख्य रूपसे ग्रहण होता था। क्योंकि ये वृष्य हैं, इन्द्रियोंको उद्दीप्त करते हैं। प. आशाधरजीने इनके साथ ही खट्टा, मीटा, तीता, कटुक, कसैला और लवण इन छह रसोंमें-से एक, दो या सबके त्यागको भी रसपरित्यागमें स्पष्ट कर दिया है। मिष्टरसके त्यागमें और इक्षुरसका त्यागमें अन्तर है। मिष्टरसका त्यागी मीठे फलोका सेवन नहीं कर सकता किन्तु इक्षुरसका त्यागी कर सकता है ॥२७॥

जो संसारसे उद्विग्न है, सर्वज्ञके वचनोमें दृढ आस्था रखता है, तप और समाधिका इच्छुक है, सल्लेखना प्रारम्भ करनेसे पहले ही मक्खन आदि चार माहविकृतियोंको जीवन

काडक्षाकृन्नवनीतमक्षमदसृण्मांसं प्रसङ्गप्रदं

मद्यं क्षौद्रमसंसमार्थमुदित यद्यच्च चत्वार्यपि ।

सम्मूर्च्छालसवर्णजन्तुनिचितान्युच्चैर्मनोविकिया-

हेतुत्वादपि यन्महाविकृतयस्त्याज्यान्यतो धार्मिकैः ॥२८॥

इत्याज्ञा दृढमार्हती दधदधादभीतोत्यजत तानि य-

श्चत्वार्येव तपःसमाधिरसिकः प्रागेव जीवावधि ।

अभ्यस्येत्स विशेषतो रसपरित्याग वपुः संलिखन

स्याददृषीविषवद्धि तन्वपि विकृत्यड न शन्त्यै श्रितम ॥२९॥

काक्षकृत--गृद्धिकरम । अक्षमदसृट--इन्द्रियर्पकारि । प्रसङ्गप्रद--पुनः पुनस्तत्र वृत्तिरगम्यारगमन वा प्रसङ्गस्त प्रकर्षेण ददाति । असंयमार्थि--ससविषयकरागात्मक इन्द्रियासंयमः,

रसजजन्तुपीडालखणश्च प्राणासंयमः, । तन्निमित्तम् । संमूर्च्छलाः--सन्मूर्च्छनप्रभवाः । सवर्णः--स्वस्य  
योनिद्रव्येण समानवर्णाः । उच्चैर्मनोविक्रियाहुतुत्वत--महाचेतोविकारकारणत्वात् । धर्मिकः--  
धर्ममहिसालक्षणं चरिध्दः ॥२८॥

दृढं--सर्वज्ञाज्ञालडधनादेव दुरन्तसंसारपातो ममाभूद भविष्यति च तदेना जातुचिन्न लडयेयमिति  
निर्बन्ध कृत्वत्यर्थः । तपःसमधिरसिकः--तपस्येकाग्रता तपःसमाधी वा नितान्तमाकडक्षन । उक्तं च--

चत्तारि महाविगडीओ होति णवणीदमज्जमंसमहू ।

कंखा-पसंग-दप्पासंजमकारीओ एदाओ ॥

आणाभिकंखिणावज्जभरू णा तवसमाधिकामेण ।

ताओ जावज्जीव णिवुढाओ पुरा चेव ॥ [ मूलाचार, गा. ३५३-३५४ ]

दूषीविषवत--मन्दप्रभावविषमिव । उक्तं च--

घ्जीर्ण विषध्नौषधिभिर्हत वा दावाग्निवातातपशेषितं वा ।

स्वभावतो वा न गुणैरू पेत्त दूषीविषाख्य विषमभ्युपैति ॥३६ [ ]

तन्वपि--अल्पमपि ॥२९॥

---

पर्यन्त छोड चुका है, वही शरीरको कृश करनेकी इच्छासे रसपरित्यागका विशेष रू पसे अभ्यास  
करनेका पात्र है, यह बात दो पद्योसे कहते हैं--

नवनीत--मक्खन तृष्णको बढाता है, मांस इन्द्रियोमे मद पैदा करता है । मद्य जो एक बार पी  
लेता है बार-बार पीना चाहता है । साथ ही, अभोग्य नारीको भी भोगनकी प्रेरणा करता है । शहद  
असंयमका कारण है । असंयम दो प्रकारका होता है--इन्द्रिय असंयम और प्राणी असंयम । रसविषयक  
अनुरागाके इन्द्रिय असंयम कहते हैं और प्राणी असंयम । रसविषयक अनुरागको इन्द्रिय असंयम कहते हैं  
और रसमे रहनेवाले जीवोको पीडा होना प्राणी संयम है । शदके सेवनसे दोनो असंयम होते हैं । दूसरी  
बात यह है कि इन चारोमे ही उसी रंगके सम्मूर्च्छन जीव भरे हैं । तीसरी बात यह है कि ये उच्च  
मनोविकारमे कारण हैं । इनके सेवनसे मन अत्यधिक विकारयुक्त होता है । इसीलिए इन्हे महाविकृति  
कहा है । अतः अहिंसा धर्मके पालकोकेक इन्हे त्यागना चाहिए । जिन भगवानकी इस आज्ञाको दृढ  
रू पसे धारण करता हुआ, पापसे भयभीत और तप तथा समाधिका अनुरागी जो मुमुक्षु पहले ही  
जीवनपर्यन्तके लिए उन चरोका ही त्याग कर चुका है, वह शरीरको कृश करनेके लिए रसपरित्यागका  
विशेष रू पसे अभ्यास करे, क्योंकि जिस विषका प्रभाव मन्द हो गया है उस विषकी तरह थोडा भी  
विकारके कारणको अपनानेसे कल्याण नहीं होता ॥२८-२९॥

अथ विविक्तशय्यासनस्य तपसो लक्षणं फलं चोपदिशति--

विजन्तुविहितबलाद्यविषये मनोविक्रिया  
निमित्तरहिते रति ददति शून्यसद्यादिके।  
स्मृत शयनमासनाद्यथ विविक्तशय्यासन  
तपोर्तिहतिवर्णिताश्रुमतसमाधिसंसिद्धये ॥३०॥

विहित--उदगमादिदाशरहितम । ते च पिडुध्दयुक्ता यथास्वमत्र चिन्त्याः । अबलाद्यविषयः--  
स्त्रीपशु-नपुंसुक-गृहस-क्षुद्रजीवानागमगोचरः । मनोविक्रियानिमित्तानि--अशुभसंकल्पकाराः शब्दाद्यर्थाः ।  
रति-मनसोन्यत्र गमनौत्सुक्यनिवृत्तिम । सद्यादि--गृहगुहा-वृमूलादि । आसनादि--उपवेशनोद्धावस्थानदि  
। अतिहतिः--आबाधत्ययः-। वर्णिता--ब्रम्हयर्चम ॥३०॥

अथ विविक्तवसतिमध्युषितस्य साधेरसाधुलोकसंगादिप्रभवदोषसंक्लोभावं भ्रावयति--

असभ्यजनसंवासदर्शनौत्थैर्न मथ्यते ।  
मोहानुरागविद्वेषैर्विविक्तवसति श्रितः ॥३१॥

विविक्तवसतिम । तल्लखणं यथा--

घ्यत्र न चतोविकृतिः शब्दाद्येषु प्रजायतेथेषु ।  
स्वाध्यायध्यानतिन यत्र वसतिर्विविक्ता सा ॥

अपि च--

घ्हिसाकषायशब्दादिवारंक ध्यानभ्रावनापथ्यम ।  
निर्वेदहेतुबुल शयनासनमिष्यते यतिभिः ॥

तन्निवासगुणश्च--

घकलहो रोल झझा व्यामोहः संकरो ममत्वं च ।  
ध्यानाध्यनविघातो नास्ति विविक्ते मुनर्वसतः ॥३ [ भ. आ., २३२ का रू पान्तर ]

रोलः--शब्दबहुलता । झझासंक्लेशः । संकरः--असंयतैः सह मिश्रणम । ध्यानं--एकस्मिन् प्रमेये  
निरू ध्दा ज्ञानसंततिः । अध्ययनं--अनेकप्रमेयसंचारी स्वाध्यायः ॥३१॥

---

आगे विविक्तशय्यासन नामक तपका लक्षण और फल कहते है--

अनेक प्रकारकी बाधाओको दूर करनेके लिए तथा ब्रम्हयर्च, शास्त्रचिन्ता और समाधिकी सम्यक सिद्धिके लिए, ऐसे शून्य घर, गुफा आदिमे, जो जन्तुओसे रति प्रासुक हो, उदगम आदि दोषेसे रहित हो, स्त्री, पशु, नपुंसक, गृहस्थ और क्षुद्र जीवोका जहाँ प्रवेश न हो, जहाँ मनमे विकार उत्पन्न करनेके निमित्त न हो, तथा जो मनको अन्यत्र जानेसे रोकता हो, ऐसे स्थानमे शयन करना, बैठना या खडा होना आदिको विविक्तशययासन तप कहा है ॥३०॥

आगे कहते है कि एकान्त स्थानमे रहनेवाले साधुके असाधु लोगोके संसर्गसे होनेवाले दोष और संक्लेश नही होते--

एकान्त स्थानमे वास करनेवाला साधु असभ्य जनोके सहवास और दर्शनसे उत्पन्न होनेवाले मोह, राग और द्वेषसे पीडित नही होता ॥३१॥

विशेषार्थ--विविक्तवसतिका लक्षण इसप्रकार कहा है-- जिस स्थानमे शब्द आदि विषयोसे चित्तमे विकार पैदा नही होता, अर्थात् जहाँ विकारके साधन नही है और जहाँ स्वाध्याय और ध्यानमे बाधा नही आती वह विविक्तवसति है । ऐसे स्थानके गुण इस प्रकार

अथ कायक्लेशं तपो लक्षयित्वा तत्प्रतिनियुङ्क्ते--

ऊर्ध्वार्काद्यनैः शवादिशयनैर्वीरासनाद्यासनैः

स्थानैरेकपदाग्रगामिभिरनिष्ठावाग्निमावग्रहैः ।

योगैश्चचातपनादिभिः प्रशमिना संतापनं यत्तनोः

कायक्लेशमिदं तपोर्त्युपनतौ सदध्यानसिद्धये भजैत ॥३२॥

ऊर्ध्वार्काद्यनैः--शिरोगतादित्यादि--ग्रामान्तरगमनप्रत्यागमनैः । शवादिशयनैः--  
मृतकण्डलगडैकपाश्वर्वादिशय्याभः । वीरासनाद्यासनैः--वीरासनमकरमुखासनोत्कुटिकासनादिभिः ।  
स्थानैः--कार्योत्सर्गः । एकपदाग्रगामिभिः--एकपदमग्रगामि पुरस्सरं येषां समपादप्रसारितभुजादीना तानि  
तैः । अनिष्ठीवाग्निमावग्रहैः-- अनिष्ठीवौ निष्ठीवनाकरणमग्निमो मुख्यो येषमकण्डूयनादीना  
तेनिष्ठीवाग्निमास्ते च तेग्रहाश्च धर्मोपकारहेतवोभिप्रायास्तैः । आतापनादिभिः--आतपनमातापनं ग्रीष्मे  
गिरिशिरेभिसूयमवस्थानम । एवं वर्षासु रूक्षमूलेषु शीतकाले चतुष्पथे संतापनम । कायक्लेशं--  
कायक्लेशख्यम । उक्तं च--

घटाणसयणसणेहि य विविहेहि य उग्गेहिबहुग्रहि ।

अणुवीचीपरिताओ कायकिलेसौ हवदि एसो ॥३३॥ [ मूलाचार, गा. ३५६ ]

अपि च--

धनुसूर्य प्रतिसूर्य तिर्यकसूर्य तथौध्दर्व सूर्य च ।

उदभ्रमकेनापि गत प्रत्यागमनं पुनर्गत्वा ॥

साधर सविचार ससन्निरोधं तथां विसृष्टाडम ।

समपादमेकपाद गृदधस्थित्यायतेः स्थानम ॥

है--ऐसे एकान्त स्थानमे रहनेसे साधुको कलह, हल्ला-गुल्ला, संक्लेश, व्यामोह, असंयमी जनोके साथ मिलना जुलना, ममत्वका सामना नही करना पडता और न ध्यान और स्वाध्यायमे बाधा आती है ॥३१॥

आगे कायक्लेशका लक्षण कहकर उसके करनेकी प्रेरणा करते है--

सूर्यके सिरपर या मूँहके सामने आदि रते हुए अन्य ग्रामको जाना और वहाँसे लौटना, मृतकके समान या दण्डके समान आदि रू पमे शयन करना, वीरासन आदि आसन लगाना, एक पैर आगे करके या दोनो पैरोको बराबर करके खडे रहना, न थूकना, न खुजाना आदिः, धर्मोपकारक अवग्रह पालना, आतापन आदि योग करना इत्यादिके द्वारा तपस्वी साधु जो शरीरको कष्ट देता है उसे कायक्लेश तप कहते है । यह कायक्लेश दुःख आ पडनेपर समीचीन ध्यानकी सिद्धिके लिए करना चाहिए ॥३२॥

विशेषार्थ--अयन, शयन, आसन, स्थान, अवग्रह और योगके द्वारा शरीरके कष्ट देनेका नाम कायक्लेश तप है । इनके प्रभेदोका स्वरूप इस प्रकार कहा है--सूर्यकी ओर पीठ करके गमन करना, सूर्यको सम्मुख करके गमन करना, सूर्यको बायी ओर या दाहिनी ओर करके गमन करना, सूर्यके सिरके ऊपर होते हुए गमन करना, सूर्यको पार्श्वमे करके गमन करना, भिक्षाके लिए एक गाँवसे दूसरे गाँव जाना और फिर लौटना, ये सब अयन अर्थात् गमनके प्रकार है जिनसे कायको कष्ट दिया जा सकता है । स्तम्भ आदिका सहारा लेकर खडे होना, एक देशसे दूसरे देशमे जाकर खडे होना, निश्चल खडे होना, कयोत्सर्ग सहित खडे होना, दोनो पैर बराबर रखकर खडे होना, एक पैरसे

साधारं स--भ. कु. च. ।

समपर्यकडनिषद्योसमयुतगोदोकिस्तथोत्कुटिक ।

मकरमुखहस्तिहस्तो गोशय्या चार्धपर्यडकः ॥

वीरासनदण्डाद्या यतोर्ध्वशय्या च लगडशय्या च ।

उत्तानमवाकशयन शवशय्या चैकपाश्वर्यशय्या च ॥

अभ्रावकाशशय्या निष्ठीवनवर्जन न कण्डूया ।

तृणफलकशिलेलास्वापसेवन कश्लौंच वा ॥

स्वापवियोगो रात्रावस्नानमदन्तघर्षणं चैव ।

काक्लेशतपोदः शीतोष्णातापनलापभृति ॥ड [ भ. आ., गा. २२२-२२७ का रू पान्तर ]

साधारणं (साधारं) सावष्टम्भम, स्तम्भादिकमाश्रित्येत्यर्थ । सविचारं ससंक्रमम । देशा (-द्वेशान्तरं गत्वा ) । ससन्निरोध निश्चलम । विसृष्टाड सकायोत्सर्गम । गृदधस्थित्या गृदधस्योर्ध्वगममिव बाहू प्रसार्य इत्यर्थः । समयुत स्फिकपडसमकरणेनासनम । गोदूहिका गोदोने आसनमिवासनम उत्कुटिका

उर्ध्व सकुचितमासनम् । मकरमुख--मकस्य मुखमिव पादौ कृत्वासनम् । हस्तिहस्तः  
स्तिस्तप्रसारणमिवैक पादं प्रसार्यासनम् । हस्तं प्रसार्य इत्यपरे । गोशय्या गवामासनमिव । वीरासनं  
जडते विप्रकृष्टदेशे कृत्वासनम् । लगडशय्याइसंकुचितगात्रस्य शयनम् । अवाक नीचमस्तकम् ।  
अभ्रावकाशशय्या--बहिर्निररणदेशे शयनम् ॥३२॥

अथैव षडविधं बरिड तपो व्याख्याय तत्त्वावदेवाभ्यन्तरं व्याकर्तुमिदमाह--

खडे होना, जिस तरह गृध्र ऊपरको जाता है उस तरह दोनो हाथ फैलाकर खडे होना, ये स्थानके प्रकार  
है । उत्तम पर्यकानसे बैठना, कटिप्रदेशको सीधा रखकर बैठना, गोदूहिका ( गो दूहते समय जैसा आसन  
होता है वैसा आसन ), उत्कृटिकासन ( दोनो पैरोको करके बैठना), मकरमुखासन ( मगरके मुखकी तरह  
पैरोको करके बैङ्ना), हस्तिहस्तासन ( हाथीकी सूँडके फैलावकी तरह एक पैरको फैलाकर बैठना, किन्हीके  
मतसे हाथको फैलाकर बैठना), गवासन, अर्धपर्यकासन, वीरासन ( दोनो जंघाओको दूर रखकर बैठना),  
दण्डासन ये सब आसनके प्रकार है । ऊर्ध्वशय्या, लगडशय्या ( शरीरको संकुचित करके सोना ), उत्तान  
शयन, अवाकशयन ) नीचा मुख करके सोना ), शवशय्या ( मुर्दे की तरह सोना ), एक करवटसे सोना,  
बाहर खुले सथनमे सोना, ये शयनके प्रकार है । थूकना नही, खुजाना नही, तृण, लकडी, पत्थर और  
भूमिपर सोना, केशलोच, रात्रिमे सोना ही नही, स्नान न करना, दन्तघर्षण न करना ये सब अवग्रहके  
प्रकार है । आतापन योग अर्थात् गर्मीमे पर्वतके शिखरपर सूर्यके सामने खडे होकर ध्यान करना, इसी  
तरह वर्षाऋतुमे वृक्षके नीचे, शीतकालमे चौराहेपर ध्यान लगाना ये योगके प्रकार है । इनके करनेसे  
साधुको कष्टसहनका अभ्यास रहता है । उस अभ्यासके कारण यदि कभी कष्ट आ पडता है ते साधु  
ध्यानसे विचलित नही होता । यदि कष्टसहनका अभ्यास न हो तो ऐसे समय मे साधु विचलित हो जाता  
है । इसीलिए कहा है--सुखपूर्वक भावित ज्ञान दुःख आनेपर नष्ट हो जाता है । इसलिए मुनिको शक्तिके  
अनुसार कष्टपूर्वक आत्माकी भावना--आराधना करना चाहिए ॥३२॥

इस प्रकार छह प्रकारके बरिग तपका व्याख्यान करके अब छह ही प्रकारके अन्तरंग तपका कथंन  
करते है--

स्वावसे भ. कु. च. ।

बाह्यद्रव्यानपेक्षत्वात् स्वसंवेद्यतवतः परैः ।

अनध्यासात्तपः प्रयाश्चिताद्यभ्यन्तरं भवेत् ॥३३॥

बाह्यद्रव्यानपेक्षत्वात्--अन्तःकरणव्यापारधनत्वात् । परैः--तैर्थिकान्तरैः ॥३३॥

अथ प्रायश्चित्तं लक्षयित्तुमाह--

यत्कृत्याकरणे वर्ज्यावर्जने च रजोर्जितम् ।

सोतिचारोत्र तच्छुद्धिः प्रायश्चित्तं दशात्म तत ॥३४॥

वर्ज्यावर्जने--वर्ज्याकार्तव्यस्य हिसांदेवर्जनेत्यगे आवर्जने वा अनुष्ठाने । तच्छुद्धिः--तस्य शुद्धिः । शुद्धयत्यनयेति शोधनम् । तस्य वा शुद्धिरनेनेति तच्छुद्धीति ग्राह्यम् । उक्तं च--

घ्पायच्छित्तं ति तओ जेण विसुज्जादि हु पुव्वकयपावं ।

पायच्छित्तं पत्तोत्ति तेण बुत्तं दसविहं तु ॥ड [ मूलाचार, गा. ३६१ ]

घ्पायच्छित्तं पत्तोत्तिड प्रायश्चित्तमपराधं प्राप्तः सन । परे त्वेवमाहुः--

अकुर्वन् विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन् ।

प्रसजंश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः ॥ड [ ] ॥३४॥

अथ किमर्थं प्रायश्चित्तमनुष्ठीयत इति पृष्ठो श्लोकद्वयमाह--

प्रमाददोषविच्छेदममर्यादाविवर्जनम् ।

भ्रावप्रसाद निः(नै)शल्यमनवस्थाव्यपोहनम् ॥३५॥

चतुर्धराराधनं दाढर्य संयमस्यैवमादिकम् ।

सिसाधयिषतायर्च प्रायश्चित्तं विशिचता ॥३६॥

---

प्रायश्चित्त आदि अन्तरंग तप है क्योकि इनमे बाह्य द्रव्यकी अपेक्षा न होकर अन्तः-करणका व्यापार मुख्य है । दूसरे, ये आत्माके द्वारा ही जाने जाते हैं, दूसरोको इनका पता नहीं चलता । तीसरे, अन्य धर्मोमे इनका चलन नहीं है ॥३३॥

प्रयश्चित्त तपका लक्षण कहते हैं--

आवश्यकरीय आवश्यक आदिने न करनेपर तथा त्यागने योग्य हिंसा आदिको न त्यागनेपर जो पाप लगता है उसे अतिचार कहते हैं । उस अतिचारकी शुद्धिको यहाँ प्रायश्चित्त कहते हैं । उसके दस भेद हैं ।

विशेषार्थ--कहा है--घजिसके द्वारा पूर्वकृत पापोका शोधनल होता है उसे प्रायश्चित्त नामक तप कहते हैं । उसके दस भेद हैं ।

प्रायश्चित्त का विधान अन्य धर्मोमे भी पाया जाता है । कहा है--घजो मनुष्य शास्त्र विहित कर्मको नहीं करता या निन्दित कर्म करता है और इन्द्रियोके विषयोमे आसक्त रहता है वह प्रायश्चित्तके योग्य है--उसे प्रायश्चित्त करना चाहिए ॥३४॥

प्रायश्चित्त क्यो कया जाता है, यह दो श्लोकोसे बतलाते हैं--

चारित्र्यमे असावधनतासे लगे दोषोको दूर करना, अमर्यादाका अर्थात् प्रतिज्ञात व्रतके उल्लंघनका त्याग यानी व्रतकी मर्यादाका पालन, परिणमोकी निर्मलता, निःशलयपना, उत्तरोत्तर अपराध करनेकी प्रवृत्तिको रोकना, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्य और सम्यक्तप इन चारोका उद्योतन आदि, तथा संयमकी दृढता, इसी प्रकारके अन्य भी कार्योंको साधनेकी इच्छा करनेवाले दोषज्ञ साधुको प्रायश्चित्त तप करना चाहिए ॥३५-३६॥

अमर्यादा--प्रतिज्ञातलक्षणं ( प्रतिज्ञातव्रतलडनम ) । उक्तं च--

ध्महातपस्तडागस्य संभृतस्य गुणाम्भसा ।

मर्यादापलिबन्धेल्पामप्युपेत्तिष्ठा मा क्षतिम ॥३५ [ ]

अनवस्थां--उपर्युपर्यपराधकरणम ॥३५-३६॥

अथ प्रायश्चित्तशब्दस्य निर्वचनार्थमाह--

प्रायो लोकस्तस्य चित्तं मनस्तच्छुद्धिकृत्क्रिया ।

प्राये तपसि वा चित्तं निश्चयस्तन्निरु च्यते ॥३७॥

यथाह--

घ्रायो इत्युच्यते लोकस्तस्य चित्त मनो भवेत् ।

एतच्छुद्धिकरं कर्म प्रायश्चित्तं प्रचक्षते ॥३६॥

यथा वा--

घ्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चयसंयुतम् ।

तपो निश्चयसंयोगात् प्रायश्चित्तं निगद्यते ॥३७ [ ] ॥३७॥

---

विशेषार्थ--परमादसे चारित्र्यमे लगे दोषोका यदि प्रायश्चित्त द्वारा शोधन न किय जाये तो फिर दोषोकी बाढ रू क नही सकती । एक बार मर्यादा टूटनेसे यदि रोका न गया तो वह मर्यादा फिर रह नही सकती । इसलिए प्रायश्चित्त अत्यन्त आवश्यक है । कहा भी है--घ्यह महातप रू पी तालाब गुणरू पी जलसे भरा है । इसकी मर्यादारू पी तटबन्दीमे थोडी सी भी क्षति की उपेक्षा नही करना चाहिए । थोडी-सी भी उपेक्षा करनेसे जैसे तालाबका पानी बाहर निकलकर बाढ ला देता वैसे ही उपेक्षा करनेसे महातपमे भी दोषोकी बाढ आनेका भय है ॥३५-३६॥

प्रायश्चित्त शब्दकी निरु क्त करते है--



प्रायश्चित्त शब्द दो शब्दों के मेल से बना है। उसमें घ्रायङ्ग का अर्थ है लोक और चित्तका अर्थ है मन। यहाँ लोकसे अपने वर्गके लोग लेना चाहिए। अर्थात् अपने साधर्मि वर्गके मनको प्रसन्न करनेवाला जो काम है वह प्रायश्चित्त है। प्रायः शब्द का अर्थ तप भी है और चित्तका अर्थ निश्चय। अर्थात् यथायोग्य उपवास आदि तपमें जो यह श्रद्धान है कि यह करणीय है उसे प्रायश्चित्त कहते हैं। यह प्रायश्चित्तका निरुक्तिगत अर्थ है ॥३७॥

विशेषार्थ--पूर्वशास्त्रोमे प्रायश्चित्त शब्दकी दो निरुक्तियाँ पायी जाती हैं, उन दोनोंका संग्रह ग्रन्थकारने कर दिया है। आचार्य पूज्यपादने अपनी सर्वार्थसिद्धिमें प्रायश्चित्त की कोई निरुक्ति नहीं दी। उमास्वाति के तत्त्वार्थ भाष्य में अपराधो वा प्रयस्तेन विशुद्ध्यति आता है। कलंकदेवने दो प्रकारसे व्युत्पत्ति दी है--प्रायः साधुलोकः। प्रायस्य यस्मिन् कर्मणि चित्तं प्रायश्चित्तम्। अपराधो वा प्रायः, चित्त शुद्धिः, प्रायस्य चित्तं प्रायश्चित्तं--अपराधविशुद्धिरित्यर्थः।--(त. वा.१।२०।१) इसमें प्रायश्चित्तके दो अर्थ किये हैं--प्रयः अर्थात् साधुजन, उसका चित्त जिस काममें हे उसे प्रायश्चित्त कहत है। और प्रायः अर्थात् अपराधकी शुद्धि जिसक द्वारा हो उसे प्रायश्चित्त कत है। यथार्थमें प्रायश्चित्तका यही अभिप्राय

---

भ. कु. च.।

-ल्पावप्युपैक्षिष्ट भ. कु. च.।

अथ प्रायश्चित्तस्यालोचन-प्रतिक्रमण-तदुभयविवेक-व्युत्सर्ग-तपश्छेदमल-परिहार-श्रद्धानलाणेषु दशसु भेदेषु मध्ये प्रथममालोचनाख्यंत तद्धेदं निर्दिशति--

सालोचनाद्यस्तद्धेदः प्रश्रयाधर्मसूरये।

यद्यशाकम्पिताद्यूनं स्वप्रमादनिवेदनम् ॥३८॥

प्रश्रयात--विनयात। उक्तं च--

ध्मस्तकविन्यस्तकरः कृतिकर्म विधाय शुद्धचेतस्कः।

आलोचयति सुविहितः सर्वान् दोषान्स्त्यजन रहसि ॥३८॥

अथालोचनाया देशकालविधननिर्णयार्थमाह--

प्राहेपराहे सद्येशे बालवत साधुनाखिलम्।

स्वागस्त्रिरार्जवाद्वाच्यं सूरैः शोध्यं च तेन तत ॥३९॥

सद्येशे--प्रशस्तस्थाने। यथाह--

धर्हतसिद्धसमुद्राब्जसरः खीरफलाकुलम्।

तोरणेद्यानसदमाहियक्षवेश्यबृदगृहम ॥

सुप्रशस्तं भवेत्स्थानमन्यदप्येवमादिकम् ।

सूरिरालोचनां तत्र प्रतिच्छत्यस्य शुध्दये ॥ [ ]

लिया जाता है । पूज्यपादने यही अर्थ किया है । उत्तरकालमे प्रायश्चित्तकी जो व्युत्पत्ति प्रचलित हुई उसमे यह अर्थ लिया गया है जैसा कि ग्रन्थके उक्त श्लोकसे स्पष्ट है । टीकामे ग्रन्थकारने दो व्युत्पत्तियों उदधृत की है घ्रायः लोकको कहते है उसका चित्त मन हेता है । मनको शुध्द करनेवाले कर्मकोक प्रायश्चित्त कहते है । इसमे अकलंकदेवकी दोनो व्युत्पत्तियोंको आशय आ जाता हैड । घ्रायः तपको कहते है और चित्तका अर्थ है निश्चय अर्थात् तप करना चाहिए ऐसा श्रध्दान । निश्चयके संयोगसे तपको प्रायश्चित्त कहते हैड ॥३७॥

प्रायश्चित्तके दस भेद है--आलोचन, प्रतिक्रमण, तदुभंय, विवेक, व्युत्सर्ग, तपच्छेद, मूल, परिहार और श्रध्दान । उनमे-से प्रथम आलोचन भेदको कहते है--

धर्माचार्यके सम्मुख विनयसे जो आकम्पित आदि दस दोषसे रहित, अपने प्रमादका निवेदन किया जात है वह प्रायश्चित्तका आलोचना नामक प्रथम भेद है ॥३८॥

विशोषार्थ--आलोचनाके सम्बन्धमे कहा है--दोनो हाथ मस्तकसे लगाकर, कृतिकर्मको करके शुध्दचित्त होकर सुविहित साधु समस्त दोषोको त्यागकर एकान्तमे आलोचना करता है । एकान्तके सम्बन्धमे इतना विशेष वक्तव्य है कि पुरु ष तो अपनी आलोचना एकान्तमे करता है उसमे गुरु और आलोचक दो ही रहते है । किन्तु स्त्रीको प्रकाशमे आलोचना करना चाहिए ताथ गुरु और आलोचक स्त्रीके सिवाय तीसरा व्यक्ति भी होना ही चाहिए ॥३८॥

आगे आलोचनाके देश और कालके विधानका निर्णय करते है--

पूर्वा ह या अपराहके समय प्रशस्त स्थानमे धर्माचार्यके आगे बालककी तरह सरलतासे तीन बार स्मरण करके अपना समस्त अपराध या पाप साधुको कहना चाहिए ॥३९॥

प्रमाददोषपरिहारः प्राश्चित्तम् ।--सर्वार्थ. ९।२० ।

सद्येश इत्युपलक्षणात् सुलग्नेपि । तदुक्तम्--

ध्दालोयणादिआ पुण होदि पसत्थे वि शुध्दभांवस्स ।

पुव्वण्हे अवरण्हे सोमतिहिरक्खवेलाए ॥ड [ भ. आरा., गा. ५५४ ]

बालवत् । उक्तं च--

ध्दह बालो जंपतो कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणदि ।

त्रिः--त्रीन वारान । स्मृत्वेत्यध्याहारः । उक्तं च--

ध्वय उजुभ्वावमुवगदो सव्वे दोसे सरित्तु तिक्खुत्तो ।

लेस्साहि विसुज्जेतो उवेदि सल्लं समुध्दरिदु ॥६ [ भग. आरा., गा. ५५३ ]

शोध्यं--सुनिरू पितप्रायश्चित्तदानेने निराकार्यम ॥३९॥

अथैकादशविराधितमार्गेणाकम्पितादिदशदोषवर्जा पदविभागिकामालोचना कृत्वा

तपोनुष्ठेयमस्मर्यमाणबहुदोषेण छिन्नव्रतेन वा पुनरौधीमिति श्लोकपच्चकेनाचष्टे--

आकम्पितं गुरुं च्छेदभयादावर्जनं गुरोः ।

तपःशूरस्तवात्तत्र स्वाशक्त्याख्यानुमापितम् ॥४०॥

यद दृष्टं दूषणस्यान्यदृष्टस्यैव प्रथं गुरोः ॥

बादरं बादरस्यैव सूक्ष्मं सूक्ष्मस्य केवलम् ॥४१॥

छन्नं कीदृक्चिकित्सं दृग्दोषे पृष्टवेति तद्धिधिः ।

शब्दाकुलं गुरोः स्वागः शब्दनं शब्दसंकुले ॥४२॥

---

विशेषार्थ--यहाँ आलोचना कब करना चाहिए और कहाँ करना चाहिए इसका निर्देश किया है । प्रातःकाल या दोपहरके पश्चात प्रशस्त स्थानमे गुरु के सामने बालककी तरह सरल भावसे आलोचना करना चाहिए । जैसे बालक अच्छी और बुरी सब बातें सरल भावसे कहता है उसी तरह साधुको माया और झूठको छोड़कर आलोचना करना चाहिए । इससे उसकी विशुद्धि होती है । भ. आराधनामे ( गा. ५५४ ) ऐसा ही कहा है--घविशुद्ध परिणामवाले क्षपककी आलोचना आदि प्रशस्त क्षेत्रमे दिनके पूर्व भाग या उत्तर भागमे शुभ तिथि, शुभ नक्षत्र और शुभसमयमे होती है । अर्थात् आलोचनाके लिए परिणामोकी विशुद्धिके साथ क्षेत्रशुद्धि और कालशुद्धि भी आवश्यक है ॥३९॥

जिस साधुने रत्नत्रयरूप मोक्षमार्गकी एकदेश विराधना की है उसे आकम्पित आदि दस दोषोसे रहित पदविभागिकी नामक आलोचना करे तपस्या करना चाहिए । और जिसे अपने बहुत-से दोषोका स्मरण नहीं है, अथवा जिसने अपने व्रतको भंग कर लिया है उसे औधी आलोचना करना चाहिए, यह बात पाँच श्लोकोसे कहते हैं--

महाप्रायश्चित्तके भयसे उपकरणदान आदिसे गुरु को अल्पप्रायश्चित्त देनेके लिए अपने अनुकूल करना आकम्पित नामक आलोचना दोष है । वे धन्य हैं जो वीर पुरुषोके करने योग्य उत्कृष्ट तपको करते हैं इस प्रकार तपस्वी वीरोका गुणगान करे तपके विषयमे गुरु के सामनेक अपनी अशक्ति प्रकट करना, इस तरह प्रार्थना करनेपर गुरु थोड़ा प्रायश्चित्त देकर मुझपर कृपा करेगे इसलिए अनुमानसे

जानकर अपना अपराध प्रकट करना अनुमापित दोष है । दूसरेके द्वारा देख लिये गये दोषको ही प्रकट करना और जो अपना दोष दूसरेने नहीं है । दूसरेके द्वारा देख लिये गये दोषको ही प्रकट करना और जो अपना दोष दूसरेने नहीं देखा उसे छिपाना यददृष्ट नामक दोष है । गुरु के सामने स्थूल दोषको ही प्रकट करना और

दोषे बहुजनं सूरिदत्तान्यक्षुण्णतत्कृतिः ।

बालाच्छेदग्रहोव्यक्तं समात्तत्सेवितं तवसौ ॥४३॥

दशेत्युज्जन मलान्मूलाप्राप्तः पदविभागकाम ।

प्रकृत्यालोचना मूलाप्राप्तश्चौधी तपश्चरेत् ॥४४॥ [ पच्चकम ]

गुरु च्छेदभ्यात--महाप्रायश्चित्तशंकातः । आवर्जन--उपकरणदानादिना  
आत्मनोल्पप्रायश्चित्तदानार्थमनुकूलनम ।

तपःशूरस्तवात--धन्यास्ते ये वीरपुरुषाचरितमुत्कृष्टं तपः कुर्वन्तीति व्यावर्णनात् । तत्र--तपसि ।  
स्वाशक्त्याख्या--आत्मनोसामर्थ्यप्रकाशनं गुरोरगे । अनुमापितं--गुरुः प्रार्थितः स्वल्पप्रायश्चित्तदानेने  
ममानु (-ग्रहं करीष्यातीत्यनुमानेन) । स्यैव (बादरस्यैव)-स्थूलस्यैव दूषणस्य प्रकाशनं सूक्ष्मस्य तु  
आच्छादनमिर्त्याः ॥४१॥

छन्नमित्यादि--इदृशे दोषे सति की दृशं प्रायश्चित्तं क्रियत इति स्वदोषोद्येशेन गुरु पृष्ठा तदुक्तं  
प्रायश्चित्तं कुर्वतः छन्नं नामालोचनादोषः । शब्दसंकुले--पक्षाद्यतीचारशुद्धिकालेष बहुजनशब्दबहुले  
स्थाने ॥४२॥

सूरिरित्यादि--सूरिणा स्वगुरुणा दत्तं प्रथमं वितीर्णं पश्चादन्यैः प्रायश्चित्तकुशलैः खुणं चर्चितं  
तत्प्रायश्चित्तम् । तस्य कृतिः अनुष्ठानम् । बालात्--ज्ञानेन संयमेन वा हीनात् । समात्--आत्मसदृशात्  
पार्श्वस्थात् प्रायश्चित्तग्रहणम् । तत्सेवितं इतेन समेन प्रायश्चित्तदायिना पार्श्वस्थेन सेव्यमानत्वात् । असौ  
आलोचनादोषः ॥४३॥

पदविभागिका--विशेषालोचनां, दीक्षाग्रहणात् प्रभृति यो यत्र यदा यथापराधः कृतस्तस्य तत्र तदा  
तथा प्रकाशनात् । औधी--सामान्यलोचना । उक्तं च--

ओधेन पदविभागेन द्वेधालोचना समुद्यिष्टा ।

मूलं प्राप्तस्यौधी पादविभागी ततो न्यस्य ॥

---

सूक्ष्म दोषको छिपाना बादर नामक दोष है । गुरु के आगे केवल सूक्ष्म दोषको ही प्रकट करना स्थूलको  
छिपाना सूक्ष्म नामक दोष है । ऐसा दोष होनेपर क्या प्रायश्चित्त होता है इस प्रकार अपने दोषके उद्येश्यसे  
गुरु को पूछकर उनके द्वारा कहा गया प्रायश्चित्त करनेसे छन्न नामक आलोचना दोष होता है क्योंकि  
उसने गुरु से अपना दोष छिपाया । जब अन्य साधु पाक्षिक आदि दोषोकी विशुद्धि करते हो और इस

तरह बहुत हल्ला हो रहा हो उस समय गुरु के सामने अपने दोषोका निवेदन करना शब्दाकुल नामक आलोचना दोष है। अपने गुरुके द्वारा दिये गये प्रायश्चित्तको अन्य प्रायश्चित्त कुशल साधुओसे चर्चा करके स्वीकार करना बहुजन नामक आलोचना दोष है। अपनेसे जो ज्ञान और संयममे हीन है उससे प्रायश्चित्त लेना अव्यक्त नामक दोष है। अपने ही समान दोषी पार्श्वस्थ मुनिसे प्रायश्चित्त लेना तत्सेवित नामक दोष है। इस प्रकार इन दस दोषोको त्यागकर आलोचना करना चाहिए। जिनसे मूलव्रतका सर्वोच्छेद नही हुआ है एकदेश छेद हुआ है उन्हे पदविभागिकी आलोचना करना चाहिए और जिनसे मूलका छेद हुआ है उन्हे औधी आलोचना करनी चाहिए ॥४०-४४॥

विशेषार्थ--आलोचनाके दो भेद कहे है--पदविभाग और ओध। इनको स्पष्ट करते हुए अन्यत्र कहा है--ओध और पदविभागके भेदसे आलोचनाके दो भेद कहे है। जिसने व्रतका पूरा छेद किया है वह औधी अर्थात् सामान्य आलोचना करता है और जिसने

स्मरणपथमनुसरन्ती प्रायो नागांसि मे विपुण्यस्य ।

सर्व छेदः सजनि ममेति वालोचयेदौधी ॥

प्रब्रज्यादिसमस्तं क्रमेण यद्यत्र येन भंवेन ।

सेवितमालोचयतः पादविभांगी तथं तत्त ॥

भ. आ. गा. ५३३-३५ का रू पान्तर ] ॥४४॥

अथालोचनां विना महदपि तपो न संवरसहभांविनी निर्जरा करोति । कृतायामपि चालोयनायां विहितमनाचरन्न दोषविजयी स्यादतः सर्वदालोच्यं गुरक्तं च तदुचितमाचर्यमिति शिक्षणार्थमाह--

सामौषधवन्महदपि न तपोनालोचनं गुणय भवेत् ।

मन्त्रवदालोचनमपि कृत्वा नो विजयते विधिमकुर्वन् ॥४५॥

सामौषधवत्तस्मामे दोषे प्रयुक्तमौषधं यथा । यथाहुः--

ध्यः पिबत्यौषधं मोहात् सामे तीव्ररू जि ज्वरे ।

प्रसुप्तं कृष्णसर्पं स कराग्रेण परामृशते ॥ [ ]

गुणाय--उपकाराय । मन्त्रवत्--पच्चाड गुप्तभाषणं यथा ।

विधिः--विहिताचरणम् ॥४५॥

अथ सदगुरु दत्तप्रायश्चित्तोचिताचितस्य दीप्त्यतिशयं दृष्टान्तेनाचष्टे--

यथादोषां याथमनयं दत्तं सदगुरु णा वहन ।

रहस्यमन्तभ्र्रात्युच्चैः शुध्दादर्श इवाननम् ॥४६॥

व्रतका एकदेश छेद किया है वह पदविभागी अर्थात् विशेष आलोचना करता है । मुझे पापीको प्रायः अपराधका स्मरण नहीं रहा । अतः मेरा समस्त व्रत छिन्न हो गया ऐसा मानकर औधी आलोचना करना चाहिए । समस्त प्रव्रज्या आदिमे क्रमसे जाहँ जिस भावसे दोष लगा है उसकी आलोचना करनेवालेके पदविभागी आलोचना होती है ॥४०-४४॥

आलोचनाके बिना महान भी तप संवरके साथ होनेवाली निर्जराको नहीं करता । और आलोचना करनेपर भी गुरु जो प्रायश्चित्त बतावे उसे न करनेवाला दोशसे मुक्त नहीं होता । इसलिए सर्वदा आलोचना करना चाहिए और गुरु जो कहे वह करना चाहिए, यह शिक्षा देते हैं--

जैसे बिना विचारे सामदोषसे युक्त तीव्र ज्वरमे दी गयी महान भी औषधे आरोग्यकारक नहीं होती, उसी प्रकार आलोचनाके बिना एक पक्षका उपवास आदि महान तप भी उपकारके लिए अर्थात् संवरके साथ होनेवाली निर्जराके लिए नहीं होता । तथा जैसे राजा मन्त्रियोसे परामर्श करके भी उनके द्वारा दिये गये परामर्शको कार्यान्वित न करनेपर विजयी नहीं होता, उसी प्रकार आलोचना करके भी विहित आचरणको न करनेवाला साधु दोषोपर विजय प्राप्त नहीं कर सकता ॥४५॥

जिसका चित्त सदगुरुके द्वारा दिये गये प्रायश्चित्तमे रमता है उसकाक अतिशय चमक प्राप्त होती है यह बात दृष्टान्त द्वारा कहते हैं--

सदगुरु के द्वारा दोषके अनुरूप और आगमके अनुसार दिये गये प्रायश्चित्तको अपनेमे धारण करनेवाला तपस्वी वैसे ही अत्यन्त चमकता है जैसे निर्मल दर्पणमे मुख चमकता है ॥४६॥

अथ प्रतिक्रमणलक्षणमाह--

मिथ्या मे दुष्कृतमिति प्रायोपायैर्निराकृतिः ।

कृतस्य संवेगवता प्रतिक्रमणमागसः ॥४७॥

उक्तं च--आस्थिताना योगाना धर्मकथादिव्याक्षेपहेतुसन्निधनेन विस्मरणे सति पुनरनुश्लेषकस्य संवेगनिर्वेदपरस्य गुरु विरहितस्याल्पापराधस्य पुनर्न करोमि मिथ्या मे दुष्कृतमित्येवमादिभिर्दोषान्निवर्तनं प्रतिक्रमणमिति ॥४७॥

अथ तदुभयं लक्षयति--

दुःखप्नादिकृतं दोषं निराकृतु क्रियेत यत ।

आलोचनप्रतिक्रान्तिद्वयं तदुभयं तु त ॥४८॥

स्पष्टम् । किं च, आलोचन प्रतिक्रमणपूर्वक गुरु णाभ्यनुज्ञातं शिष्येणैव कर्तव्यं तदुभयं गुरु णैवानुष्ठेयम् ॥४८॥

---

इस प्रकार आलोचना तपका कथन हुआ ।

अब प्रतिक्रमण को कहते हैं--

संसारसे भयभीत और भोगोसे विरक्त साधुके द्वारा किये गये अपराधको मेरे दुष्कृत मिथ्या हो जाये, मेरे पाप शान्त हो इस प्रकारके उपायोके द्वारा दूर करनेको प्रतिक्रमण कहत है ॥४७॥

विशेषार्थ--धर्मकथा अदिमे लग जानेसे यदि प्रतिज्ञात ध्यान आदि करना भूल जाये और पुनः करे तो संवेग और निर्वेदमे तत्पर अल्प अपराधी उस साधुका गुरु के अभावमे मै ऐसी गलती पुनः नही करूँ गा, मेरा दुष्कृत मिथ्या हो, इत्यादि उपायोसे जो दोषका निवर्तन करना है वह प्रतिक्रमण है । किन्हीका ऐसा कहना है कि दोषोका उच्चारण कर-करके मेरा यह दोष मिथ्या हो इस प्रकारसे जो उस दोषका स्पष्ट प्रतीकार कया जाता है वह प्रतिक्रमण है । यह प्रतिक्रमण आचार्यकी अनुज्ञा प्राप्त करके शिष्यको ही करना चाहिए ॥४७॥

तदुभयं प्रयश्चित्तका स्वरूप कहते हैं--

खोटे स्वप्न, संक्लेश आदिसे होनेवाले दोषका निराकरण करनेके लिए जो आलोचना और प्रतिक्रमण दोनो किये जाते हैं उसे तदुभयं कहते हैं ॥४८॥

विशेषार्थ--आशय यह है कि किन्ही दोषोका शोधन तो आलोचना मात्रसे हो जाता है और कुछका प्रतिक्रमणसे । किन्तु कुछ महान दोष ऐसे होते हैं जो आलोचना और प्रतिक्रमण दोनोसे शुद्ध होते हैं जैसे दुःखप्न होना या खोआ चिन्तन करना आदि । इस तदुभयं प्रायश्चित्तके विषयमे एक शंका हाती ह कि शस्त्रमे कहा है कि आलोचनाके बिना कोई भी प्रायश्चित्त कार्यकारी नही है । फिर कहा है कि कुछ दोष केवल प्रतिक्रमणसे ही शुद्ध होते हैं यह तो परस्पर विरुद्ध कथन हुआ । यदि कहा जाता है कि प्रतिक्रमणके पहले आलोचना

---

घस्यात्तदुभंमालोचना प्रतिक्रमणद्वयम् । दुःखप्नदुष्टचिन्तादिमहादोषसमाश्रयम् ॥

--आचारसार ६।४२ ।

घृतच्चोभयं

पञ्जयश्चित्तं

सम्भ्रमभयातुरापत्सहसानाभोगानात्मवागतस्य

दुष्टचिन्तिततभाषणचेष्टावतश्च विहितम् ।--तत्त्वार्थ., टी. सिद्ध. गणि, ९।२२ ।

अथ विवेकलक्षणमाह--

संसक्तेन्नादिके दोषान्निवर्तयितुमप्रभोः ।

यत्तद्विभनं साधोः स विवेकः सतां मतः ॥४९॥

संसक्तेऽसंबद्धे

सम्मूर्च्छिते

वा

।

अप्रभोः--असमर्थस्य

।

तद्विभजनं

संसक्तान्नपानोपरकरणदेर्वियोजनम् ॥४९॥

अथ भडयन्तरेण पुनर्विवेकं लक्षयति--

विस्मृत्य ग्रहणेप्रासोग्राहणे वापरस्य वा ।

प्रत्याख्यातस्य संस्मृत्य विवेको वा विसर्जनम ॥५०॥

अप्रासोः--सचित्तस्य । अपरस्य--प्रासुकस्य । उक्तं च--

घाक्त्यानिगूहनेन प्रयत्नेन परिहरतः कुतश्चित् कारणदप्रासुकग्रहणग्राहणयोः प्रासुकस्यापि प्रत्याख्यातस्य विस्मरणत प्रतिगहे च स्मृत्वा पुनस्तदुत्सर्जन विवेक इति [ तत्त्वार्थव०, पृ. ६२२ ] ॥५०॥

अथ व्युत्सर्गस्वरूपमाह--

स व्युत्सर्गो मलोत्सर्गाद्यतीचारेवलम्ब्य सत ।

ध्यानमन्तमुहूर्तादि कायोत्सर्गेण या स्थितिः ॥५१॥

दुःसप्न-दुश्चिन्तन-मलोत्सर्जन-मूत्रातिचार-नीमहाटवीतरणादिभ्रान्त्यैश्चाप्यतीचारे सति ध्यानमवलम्ब्य कायमुत्सृज्य अन्तर्मुहूर्तदिवस-पक्ष-मासादिकालावस्थानं व्युत्सर्ग इत्युच्यते इति ॥५१॥

---

की जातील है तब तदुभय प्रायश्चित्तका कथन व्यर्थ होता है । इसका समाधान यह है कि सब प्रतिक्रमण आलोचनापूर्वक ही होते हैं । किन्तु अन्तर यह है कि प्रतिक्रमण गुरु की आज्ञासे शिष्य ही करता है और तदुभय गुरु के द्वारा ही किया जाता है ॥४८॥

विवेक प्रायश्चित्तका लक्षण कहते हैं--

संसक्त अन्नादिकमे दोषोको दूर करनेमे असमर्थ साधु जो संसक्त अन्नपानके उपकरणादिको अलग कर देता है उसे सपाधुओने विवेक प्रायश्चित्त माना है ॥४९॥

पुनः अन्य प्रकारसे विवेकका लक्षण कहते हैं--

भूलसे अप्रासुक अर्थात् सचित्तका स्वयं ग्रहण करने या किसीके द्वारा ग्रहण करानेपर उसके छोड़ देनेको विवेक प्रायश्चित्त कहते हैं । अथवा प्रासुक वस्तु भी यदि त्यागी हुई है और उसका ग्रहण हो जाये तो स्मरण आते ही उसको छोड़ देना विवेक प्रायश्चित्त है ॥५०॥

विशेषार्थ--यदि साधु भूलसे सव्यं अप्रासुक वस्तुको ग्रहण कर लेता है, या दूसरेके द्वारा ग्रहण कर लेता है तो स्मरण आते ही उसको त्याग देना विवेक प्रायश्चित्त है । इसी तरह यदि साधु त्यागी हुई प्रासुक वस्तुको भी भूलसे ग्रहण कर लेता है तो स्मरण आते ही त्याग देना विवेक प्रायश्चित्त है ॥५०॥

व्युत्सर्ग प्रायश्चित्तका स्वरूप प कहते हैं--

मलके त्यागने आदिमे अतीचार लगनेपर प्रशस्तध्यानका अवलम्बन लेकर अन्तर्मुहूर्त आदि काल पर्यन्त कायोत्सर्गपूर्वक अर्थात् शरीरसे ममत्व त्यागरकर खड़े रहना व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त है ॥५१॥



विशेषार्थ--अकलंकदेवने तत्त्वार्थवार्तिक ( पृ. ६२२ ) में कहा है--दुःस्वप्न आनेपर, खोटे विचार होनेपर, मलत्यागमें दोष लगनेपर, नदी या महाटवी (भयानक जंगल) को पार करनेपर या इसी प्रकारके अन्य कार्योंसे दोष लगनेपर ध्यानका अवलम्बन लेकर तथा कायसे

अथ तपःसंज्ञं प्रायश्चित्तं दर्शयति--

कृतापराधः श्रमणः सत्तवादिगुणभूषणः ।

यत्करोत्युपवासादिविधि तत्क्षालनं तपः ॥५२॥

उपवासादि--आदिशब्दादेकरस्थानाचाम्लनिर्विकत्यादिपरिग्रहः । क्षलनं--प्रायश्चित्तम ॥५२॥

अथालोचनादिप्रायश्चित्तविधेर्विषयमाह--

भ-त्वर-शक्त्यबोध-विस्मृतिव्यसनादजे ।

महाव्रतातिचारेमु षोढा शुद्धिविधि चरेत् ॥५३॥

भंयत्तरा--भीत्या पलायनम् । अमुं--आलोचनादिलक्षणम् । शुद्धिविधि--शास्त्रोक्तप्रायश्चित्तम् ॥५३॥

---

ममत्व त्यागकर अन्तर्मुहर्त या एक दिन या एक पक्ष या मास आदि तक खडे रहना व्युत्सर्ग तप है । किन्हीका कहना है कि नियत काल तक मन-वचन-कायको त्यागना व्युत्सर्ग है ॥५१॥

आगे तप प्रायश्चित्तको कहते हैं--

शास्त्रविहित आचरणमें दोष लगानेवाला किन्तु सत्त्व धैर्य आदि गुणोंसे भूषित श्रमण जो प्रायश्चित्त शास्त्रोक्त उपवास आदि करता है वह तप प्रायश्चित्त है ॥५२॥

आगे बतलाते हैं कि ये आलोचनादि प्रायश्चित्त किस अपराधमें किये जाते हैं--

डरकर भागना, असामर्थ्य, अज्ञान, विस्मरण, आतंक और रोग आदिके कारण मात्रतोमें अतीचार लगनेपर आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग और तप ये छह शास्त्रोक्त प्रायश्चित्त करना चाहिए ॥५३॥

विशेषार्थ--यहाँ कुछ दोषोंका प्रायश्चित्त शास्त्रानुसार लिखा जाता है--आचार्यसे पूछे बिना आतापन आदि करनेपर, दूसरेके परोक्षमें उसके पुस्तक-पीछी आदि उपकरण ले लेनेपर, प्रमादसे आचार्य आदिका कहा न करनेपर, संधके स्वामीसे पूछे बिना उसे कामसे कही जाकर लौट आनेपर, दूसरे संधसे पूछे बिना अपने संधमें जानेपर, देश और कालके नियमसे यवश कर्तव्य विशेष व्रतका धर्मकथा अदकि व्यासंगसे भूल जानेपर किन्तु पुनः उसको कर लेनेपर, इसी प्रकारके अन्य भी अपराधोंमें आलोचना मात्र ही प्रायश्चित्त है । छह इन्द्रियो और वचन आदिको लेकर खोटे परिणाम होनेपर, आचार्य आदिसे हाथ-पैर आदिका धक्का लग जानेपर, व्रत, समिति ओर गुपितका पालन कम होनेपर, चुगुली, कलह आदि

करनेपर, वैययावृत्य स्वाध्याय आदिमे प्रमाद करनेपर, गोचरीके लिए जानेपर यदि गमे विकार उत्पन्न हो जाये तथा संक्लेशके अन्य कारण उपस्थित होनेपर पतिक्रमण प्रायश्चित्त है । यह प्रतिक्रमण दिन ओर रात्रिके अन्तमे और भोजन, गमन आदिमे किया जाता है यह प्रसिध्द है । केशलोचन, नखोका छेदन, स्वप्नमे इन्द्रिय सम्बन्धी अतिचर या रात्रिभोजन करनेपर तथा पाक्षिक, मासिक और वार्षिक दोष आदिमे आलोचना और प्रतिक्रमण दोनो किये जाते है । मौन आदिके बिना आलोचना करनेपर, पेटसे किडे निकलनेपर, हिम, डॉस, मच्छर अदि तथा महावायुसे संघर्षमे दोष लगनेपर, चिकनी भूमि, हरे तृण ओर कीचडके ऊपरसे जानेपर, जंघा प्रमाण जलमे प्रवेश करनेपर, अन्यके निमित्तसे रखी वस्तुका अपने लिए उपयोग कर लेनेके नावसे नदी पार करनेपर, पुसतक या प्रतिमाके गिरा देनेपर, पॉच स्थावर कायका घात होनेपर, बिना देखे स्थानमे मल-मूत्रादि करनेपर, पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण क्रियाके अन्तमे तथा व्याख्यान आदि करनेमे अन्तमे कायोत्सर्ग करना ही

अथ छेदं निर्दिशित--

चिरप्रव्रजितादृप्तशक्ताशूरस्य सागरसः ।  
दिनपक्षादिना दीक्षापनं छेदमादिशेत ॥५४॥

स्पष्टम् ॥५४॥

अथ मूललक्षणमाह--

मूलं पार्श्वस्थसंसक्तस्वच्छन्देष्ववसन्नके ।  
कुशीले च पुनर्दीक्षादानं पर्यायवर्जनात् ॥५५॥

पार्श्वस्थः--यो वसतिषु पतिबध्द उपकरणोपजीवी वा श्रमणानां पार्श्वे तिष्ठति । उक्तं च--

ध्वसदीसु अ पडिबध्दो अहवा उवकरणकारओ भणो ।  
पासत्थी समणाणं पासत्थो णाम सो होई ॥ [ ]

संसक्तः--यो वैद्यकमन्त्रजयोतिषोपजीवी राजादिसेवकश्च स्यात् । उक्तं च--

ध्वेज्जेण व मतेण व जोइसकुसलत्तणेण पडिबध्दो ।  
रायाद सेवंतो संसत्तो णाम सो होई ॥ [ ]

स्वच्छन्दः--यस्त्यक्तगुरु कुलः एकाकित्वेन स्वच्छन्दविहारी जिनवचनदूषको मृगचारित्र इति यावत्

। उक्तं च--

घआयरियकुलं मुच्चा विहरदि एगागिणो य जो समणो ।

जिणवयणं णिदंतो सच्छंदो होई मिगचारी ॥ड [ ]

प्रायश्चित्त है । थूकने या पेशाब आदि करनेपर कायोत्सर्ग किया ही जाता है ॥५३॥

छेद प्रायश्चित्तको कहते हैं--

जो साधु चिरकालसे दीक्षित है, निर्मद है, समर्थ है और शूर है उससे यदि अपराध हो जाये तो दिन, पक्ष या मास आदिका विभाग करके दीक्षा छेद देनेको छेद प्रायश्चित्त कहते हैं । अर्थात् उसकी दीक्षके समयमे कमी कर दी जाती है । जैसे पाँच वर्षके दीक्षितको चार वर्षका दीक्षित मानना ॥५४॥

मूल प्रायश्चित्तका लक्षण कहते हैं--

पार्श्वस्थ, संसक्त, स्वच्छन्द, अवसन्न और कुशील मुनियोको अपरिमित अपराध होनेसे पूरी दीक्षा छेदकर पुनः दीक्ष देना मूल प्रायश्चित्त है ॥५५॥

विशेषार्थ--इनका लक्षण इस प्रकार है--जो मुनियोको वसतिकाओके समीपमे रहता है, उपकरणोसे आजीविका करता हैउसे श्रमणोक पासमे रहनेसे पासत्थ या पाश्वस्थ कहते हैं । व्यवहारसूत्र (श्वे.) के प्रथम उद्येशमे इसे तीन नाम दिये हैं--पार्श्वस्थ, प्रास्वस्थ और पशस्थं । दर्शन ज्ञान और चारित्रके पासमे रहता है किन्तु उसमे संलग्न नहीं होता इसलिए उसे पार्श्वस्थ कहते हैं । और घ्रड अर्थात् प्रकर्षसे ज्ञानादितम निरु द्यमी होकर रहता है इसलिए प्रास्वथ कहते हैं । तथा पाश न्धको कहते हैं । मिथ्यात्व आदि बन्धके कारण होनेसे पाश है । उनमे रहनेसे उसे पाशत्थ कहते हैं । भगवती आराधना (गा.१३००) मे कहा है कि

ज्ञानादीना पार्श्वे तिष्ठतीति पार्श्वस्थ इति व्युत्पत्तेः । २. प्रकर्षेण समन्तात् ज्ञानादिषु निरु द्यमतया स्वस्थः प्रास्वस्थ इति व्युत्पत्तेः ।

अवसन्नः यो जनवचनानभिज्ञो मुक्तचारिऋत्रभारो ज्ञानचराभ्रष्टः करणालसश्च स्यात् । उक्तं च-

घजावयणमयाणंतो मुक्कधुरो णाणचरणपरिभटटो ।

करणालसो भवित्ता सेवदि ओसण्णसेवाओ ॥ड [ ]

कुशीलः--यः क्रोधदिकषायकलुषिताम व्रतगुणशीलैः परिहीणः संधस्यानयकारी च स्यात् । उक्तं

च--

घकोहादिकलुसिदप्पा वयगुणसीलेहि चावि परिहीणे ।

संधस्स अणयकारी कुशीलसमणोत्ति णयव्वो ॥ड [ ]

पर्यायवर्जनात्--अपरिमितापराधत्वेन सर्वपर्यायमपहाय इत्यर्थः ॥५५॥

आथ परिहारस्य लक्षणं विकल्पांश्चाह--

विधिवददूरात्यजनं परिहारो निजगणनुपस्थानम् ।

सपरगणोपस्थानं पारच्चिकमित्ययं त्रिविधः ॥५६॥

निजगणानुपस्थानं--प्रमाददन्त्यमुनिसंबनिधनमर्षिं छात्रं गृहस्थं वा परपाषण्डिपतिबद्धचेतनाचेतनद्रव्यं वा परस्त्रियं वा स्तेनयतो मुनीन पहरतो वा अन्यदप्येवमादि विरू ध्वाचरितमाचरतो नवदशपूर्व-

पाश्वस्थ इन्द्रिय कषाय और पंचेन्द्रियोके विषयोसे पराभूत होकर चारित्रको तृणके समान मानता है । ऐसे चारित्रभ्रष्ट मुनिको पार्श्वस्थ कहते हैं । जो मुनि उनके पास रते हैं वे भी वैसे ही बन जाते हैं । जो साधु वैद्यक, मन्त्र और ज्योतिषसे आजीविका करता है तथा राजा आदिकी सेवा करता है वह संसक्त है ।

व्यवहारसूत्र (उ.३) में कहा है कि संसक्त साधु नटकी तरह बहुरूपिया होता है । पार्श्वस्थोमें मिलकर पार्श्वस्थ-जैसा हो जाता है, दूसरोमें मिलकर उन-जैसा हो जाता है इसीसे उसे संसक्त नाम दिया है । जो गुरु कुलको छोड़कर एकाकी स्वच्छन्द विहार करता है उसे स्वच्छन्द या यथाच्छन्द कहते हैं । कहा है--छाचार्यकुलको छोड़कर जो साधु एकाकी विहार करता है वह जिनवचनका दूषक मृगके समान आचरण करनेवाला स्वच्छन्द कहा जाता है ।

भगवती आराधना (गा.१३१०) में कहा है जो मुनि साधुसंधको त्याग कर स्वच्छन्द विहार करता है और अगमविरू ध्वाचारोकी कल्पना करता है वह स्वच्छन्द है । श्वेताम्बर परम्परामें इसका नाम यथाच्छन्द है । छन्द इच्छको कहते हैं । जो आगमके विरू ध्वा इच्छानुकूल प्रवृत्ति करता है वह साधु यथाच्छन्द है । जो जिनागमसे अनजान हो, ज्ञान और आचरणसे भ्रष्ट है, आलसी है उसे साधुको अवसन्न कहते हैं । व्यवहारभाष्यमें कहा है कि जो साधु आचरणमें प्रमादी होता है, गुरु की आज्ञा नहीं मानता वह अवसन्न है । तथ जो साधु कषायसे कलुषित और व्रत, प्रकारके साधओके पुरानी दीक्षा देकर नयी दीक्षा दी जाती है यह मूल प्रायश्चित्त है ॥५५॥

परिहार प्रायश्चित्तका लक्षण और भेद कहते हैं--

शासत्रोक्त विधानके अनुसार दिवस आदिके विभागसे अपराधी मुनिको संधसे दूर कर देना परिहार प्रायश्चित्त है । इसके तीन भेद हैं--निजगणानुपस्थान, सपरगणोपस्थान और पारंचिक ॥५६॥

धरस्यादित्रिकसंननस्य जितपरीषहस्य दृढधर्मणो धीरस्य भवभीतस्यैतत् प्रायश्चित्तं स्यात् । तेन ऋष्याश्रमाद द्वात्रिंशद्यण्डान्तरविहितविहारेण बालमुनीनपि वन्दामानेन प्रतिवन्दनाविहितेन गुरु णा सहालोचयता शेषनुनेषु कृतमौनव्रतेन विधृतपराडमुखपिच्छन जधन्यतः पच्च पच्चोपवासा उत्कृष्टतः षण्मासोपवासाः कर्तव्याः । उभयमप्याद्वादशवर्षादिति । दर्पात्पुनरनन्तरोक्तान दोषानाचरतः

परगणोपस्थापनं नाम प्रायश्चित्तं स्यात् । स सापराधः स्वगणचार्येण परगणचार्यं प्रति प्रहेतव्यः । सोप्याचार्यस्तलोचनामाकर्ण्य प्रायश्चित्तमदत्त्वा आचार्यन्तरं प्रस्थापयति सप्तमं यावत् । पश्चिमश्च प्रमालोचिताचाग्रं प्रति प्रस्थापयति । स एव पूर्वोक्तप्रायश्चित्तेनैवमाचारयति । एवं परिहारस्य प्रथमभेदोऽनुपस्थापनाख्यो द्विविधः । द्वितीयस्त्वयं पारच्छिकाख्यः । स एष तीर्थकरगणधरगणिप्रवचनसंधाद्यासादनकारस्य नरेन्द्रविरुद्धाचरितस्य राजानभिमतामात्यादीना दत्तदीक्षस्य नृपकुलवनितासेवितस्यैवमादिभ्रिन्यैश्च दोषैर्धर्मदूषकस्य स्यात् । तद्यथा, चातुर्वर्ण्यश्रमणसंधः संभूय तमाहूय एष महापापी पातकी समयबाहयो न वन्द्यति घोषयित्वा दत्तवानुपस्थापनं प्रायश्चित्तं देशान्निर्घाटयति । सोऽपि स्वधर्मविरहितक्षेत्रे गणित्तं प्रायश्चित्तमाचरतीति ॥५६॥

विशेषार्थ--अपने संधसे निर्वासित करनेको निज गुणानुपस्थान कहते हैं । जो मुनि नौ या दस पूर्वका धारी है, जिसके आदिके तीन संहननोमे-से कोई एक संहनन है, परीषहोका जेता, दृढधर्मी, धीर और संसारसे भयभीत है फिर भी प्रमादवश अन्य मुनियोसे सम्बद्ध ऋषि (?) अथवा छात्रको, मुनियोपर प्रहार करता है, अन्य भी इस प्रकारके विरुद्ध आचरण करनेवाले उस साधुको निजगुणानुपस्थान नामक प्रायश्चित्त होता है । इस प्रायश्चित्तके अनुसार वह दोषी मनि मुनियोके आश्रमसे बत्तीस दण्ड दूर रहकर विहार करता है, बाल मुनियोकी भी वन्दना करता है, उसे बदलेमे कोई वन्दना नहीं करता, केवल गुरु से आलोचना करता है, शेष जनोसे वार्तालापन नहीं करता, मौन रहता है, पीछी उलटी रखता है, जघन्यसे पॉच-पॉच उपवास और उत्कृष्टसे छह मासका उपवास उसे करना चाहिए । ये दोनो बारह वर्ष पर्यन्त करना चाहिए । जो मुनि दर्पसे उक्त दोष करता है उसे परगणोपस्थापन प्रायश्चित्त होता है । उस अपराधीको उसकेसंधके आचार्य दूसरे संधके आचार्यके पास भेज देते हैं । दूसरे संधके आचार्य भी उसकी आलोचना सुनकर प्रायश्चित्त नहीं देते और तीसरे आचार्यके पास भेज देते हैं । इस तरह वह सात आचार्योके पास जात है । पुनः उसे इसी प्रकार लौटाया जाता है अर्थात् सातवों आचार्य छटेके पास, छठा पाचूवेक पास इस तरह वह प्रथम आचार्यके पास लौटता है । तब वह पहला आचार्य पूर्वोक्त प्रायश्चित्त उसे देता है । इस तरह परिहार प्रायश्चित्तके प्रथम भेद अनुपस्थापनो दो भेद हैं । दूसरा भेद पारंचिक है । जो तीर्थकर, गणधर, आचार्य, प्रवचन, संध आदिकी आसादना करता है, या राजविरुद्ध आचरण करता है, राजाकी स्वीकृतिक बिना उसे मन्त्री आदिको दीक्षा देता है, या राजकुलकी नारीका सेवन करता है और इसी प्रकारके अन्य कार्योंसे धर्मको दूषण लगाता है उसको पारंचित प्रायश्चित्त दिया जाता है । वह इस प्रकार है--चतुर्विध श्रमण संध एकत्र होकर उसे बुलात है । और कहता है यह पातकी महापापी है, जिनधर्म बाह है, इसकी वन्दना नहीं करना चाहिए । ऐसी धोषणा करके अनुपस्थान प्रायश्चित्त देकर देशसे निकाल देता है । वह भी अपने धर्मसे रहित क्षेत्रमे रहकर आचार्यके द्वारा दिये गये प्रायश्चित्तका करता है । अभिधान राजेन्द्रकोशमे पारंचिकका विस्तारसे वर्णन है । उसके दो भेद--आशातना पारंचिक और पतिसेवना पारंचिक । तीर्थकर, प्रवचन, श्रुत, आचार्य

गत्वा स्थितस्य मिथ्यात्वं यद्दीक्षाग्राहणं पुनः ।

तच्छ्रद्धानमिति ख्यातमुपसापनमत्यपि ॥५७॥

स्पष्टम् ॥५७॥

अथ प्रायश्चित्तविकल्पदशकस्य यथापराधं प्रयोगविधिमाह--

सैषा दशतयी शुद्धिर्बलकालाद्यपेक्षया ।

यथा दोषं प्रयोक्तव्या चिकित्सेव शिवार्थिभिः ॥५८॥

शुद्धिः--प्रायश्चित्तम् । कालादि । आदिशब्दात् सत्त्वसंहननादि । पक्षे दूष्यादि च । यथाह--

घट्टुष्यं देशं बलं कालमनलं प्रकृति वयः ।

सत्त्वं सात्त्वं तथाहारभवस्थांश्च पृथगविधाः ॥

सूक्ष्मसूक्ष्माः समीक्ष्यैका दोषौषधिनिरूपणे ।

यो वर्तते चिकित्सायां न स स्वलति जातुचित ॥७ [ ]

दोषः--अतिचारो वातादिश्च ॥५८॥

---

और गणधरकी आशातना करनेपर जो पारंरिक दिया जाता है वह आशातना पारंरिक है । वह पारंरिक जघन्यसे छह मास और उत्कृष्ट बारह मास होता है । इतने कालतक अपराधी साधु गच्छस बाहर रहता है । प्रतिसेवना पारंरिकवाला साधु जघन्यसे एक वर्ष और उत्कृष्ट बारह वर्ष गच्छसे बाहर रहता है । पारंरिक प्रायश्चित्त जिसे दिया जाता है वह नियमसे आचार्य ही होता है इसीलिए वह अन्य गणमे जाकर प्रायश्चित्त करता है । अपने गणमे रहकर करनेसे नये शिष्य साधु तुरन्त जान सकते हैं कि आचार्यने अपराध किया है । इसका उनपर बुरा प्रभाव पड सकता है । परगणमे जानेपर यह बात नहीं रहती । वहाँ जाकर उसे जिनकल्पकी चर्या करनी होती है और एकाकी ध्यान और श्रुतचिन्तनमे बारह वर्ष बिताना होते हैं । परगणके आचार्य उसकी देख-रेख रखते हैं । वीरनन्दिकृत आचारसारमे भी ( ६।५४-६४ ) इसका विशेष वर्णन है ॥५६॥

श्रद्धान नामक प्रायश्चित्तका स्वरूप कहते हैं--

जिसने अपना धर्म छोडकर मिथ्यात्वको अंगीकार कर लिया है उसे पुनः दीक्षा देनेको श्रद्धान प्रायश्चित्त कहते हैं । इसको उपस्थापन भी कहते हैं ॥५७॥

दोषके अनुसार प्रायश्चित्तके इन दस भेदोंके प्रयोगकी विधी बतलाते हैं--

जैसे आरोग्यके इच्छुक दाषके अनुसार बल, काल आदिकी अपेक्षासे चिकित्साका प्रयोग करते हैं । वैसे ही कल्याणके इच्छुकोको बल, काल, संहनन आदिकी अपेक्षासे अपराधके अनुसार उक्त दस प्रकारके प्रायश्चित्तका प्रयोग करना चाहिए ॥५८॥

---

क्षयैषां भ. कु. च. ।

पृ. ६४ ।

६। ६५ ।

अथैव दशधा प्रश्चित्तं व्यवहारात् व्याख्यान निश्चयात्तदभेदपरिमाणनिर्णयार्थमाह--

व्यवहारनयादित्थं प्रायश्चित्तं दशात्मकम् ।

निश्चयात्तदसंख्येयलोकमात्रभिदिष्यत ॥५९॥

लोकः--प्रमाणविशेषः । उक्तं च--

घृल्लो सायर सूई पदरो य धणंगुलो य जगसेढी ।

लोगपदरो य लोगो अठठ पमाणा मुणेयव्वा ॥३ [ मूलाचार, गा. ११६ ]

अथ विनयाख्यतपोविशेषलक्षणार्थमाह--

स्यात् कषायहषीकाणां विनीतेर्विनयोथवा ।

रत्नत्रये तद्वति च यथायोग्यमनुग्रहः ॥६०॥

विनीतेः--विहिते प्रवर्तनात् सर्वथानिरोधाद्वा । तद्वति च-रत्नत्रययुक्ते पुंसि चकरात् रत्नत्रयतद्वाव  
कानुग्राहिणि नृपादौ च । अनुग्रहः--उपकारः ॥६०॥

अथ विनयशब्दनिर्वचनपुरस्सरं तत्फलमुपदर्शयस्तस्यावश्यकर्तव्यतामुपदिशति--

---

इस प्रकार व्यवहारनयसे प्रायश्चित्तके दस भेदोका व्याख्यान करके निश्चयनयसे उसके भेद करते  
है--

इस प्रकार व्यवहारनयसे प्रायश्चित्तके दस भेद हैं । निश्चयनयसे उसके असंख्यात लोक प्रमाण  
भेद है ॥५९॥

विशेषार्थ--अलौकिक प्रमाणके भेदोमे एक भेद लोक भी है । प्रमाणके आठ भेद हैं--पल्य, सागर,  
सूच्यंगुल, प्रतरांगुल, धनांगुल, जगत श्रेणी, गत्प्रतर और लोक । निश्चयनय अर्थात् परमार्थसे  
प्रायश्चित्तके भेद असंख्यात लोक प्रमाण है । क्योंकि दोष प्रमादसे लगता है और आगममे व्यक्त और  
अव्यक्त प्रमादोके असंख्यात लोक प्रमाण भेद कहे हैं । अतः उनसे होनेवाले अपराधोकी विशुद्धिके भी

उतने ही भेद होते हैं। अकलंकदेवने तत्त्वार्थवार्तिकमे ९।२२ सूत्रके व्याख्यानके अन्तमे कहा है कि जीवके परिमाणके भेद असंख्यात लोक प्रमाण होते हैं, अतः अपराध भी उतने ही होते हैं किन्तु जितने अपराधके भेद हैं उतने ही प्रायश्चित्तके भेद नहीं हैं। अतः यहाँ व्यवहारनयसे सामूहिक रूपसे प्रायश्चित्तका कथन किया है। ध्वारित्रसार मे चामुडरायने भी अकलंक देवके ही शब्दको दोहराया है ॥५९॥

विनय नामक तपका लक्षण कहते हैं--

क्रोध आदि कषायो और स्पर्शन आदि इन्द्रियोका सर्वथा निरोध करनेको या शास्त्रविहित कर्ममे प्रवृत्ति करनेको अथवा सम्यग्दर्शन आदि और उनसे सम्पन्न पुरुष तथा घ्वड शब्दसे रत्नत्रयके साधकोपर अनुग्रह करनेवाले राजाओका यथायोग्य उपकार करनेको विनय कहते हैं ॥६०॥

विनय शब्दकी निरुक्तिपूर्वक उसका फल बतलाते हुए उसे अवश्य करनेका उपदेश देते हैं--

---

१. थाविरो--भ. कु. च. ।

यद्धिनयत्यपनयति च कर्मासंत्त निराहुरिह विनयम ।

शिक्षयाः फलमखिलक्षेमफलश्चेत्ययं कृत्यः ॥६१॥

अपनयति च--विशेषेण स्वर्गापवर्गो नयतीति चशब्देन समुच्चीयते । इह--मोक्षप्रकरणे ॥६१॥

अथ विनयस्य शिष्टाभीष्टगुणैकसाधनत्वमाह--

सारं सुमानुष्पात्वेर्हदूपसंपदिहार्हती ।

अविनीतस्य शिक्षापि खलमैत्रीव किफला ॥६३॥

किफला--निष्फला अनिष्टफला च ॥६३॥

---

घविनयड शब्द घविड उपसर्गपूर्वक घ्नी नयनेड धतुसे बना है। तो घविनयतीति विनयःड । विनयतिके दो अर्थ होते हैं --दूर करना और विशेषा रूपसे प्राप्त कराना । जो अप्रशस्त कर्मोंको दूर करती है और विशेष रूपसे स्वर्ग और मोक्षको प्राप्त कराती है वह विनय है । यह विनय जिनवचनके ज्ञानको प्राप्त करनेका फल है और समस्त प्रकारके कल्याण इस नियमसे ही प्राप्त होते हैं । अतः इसे अवश्य करना चाहिए ॥६१॥

विशेषार्थ--भारतीय साहित्यमे विद्या ददाति विनयम विद्यासे विनय आती है, यह सर्वत्र प्रसिद्ध है । जब विद्यासामान्यसे विनय आती है तो जिनवाणीके अभ्याससे तो विनय आना ही चाहिए, क्योंकि जिनवाणीमे सदगुणोका ही आख्यान है । तीर्थकर प्रकृतिका बन्ध जिन सोलह कारणभावनाओसे होता है । उनमे एक विनयसम्पन्नता भी है । आज पाश्चात्य सभ्यताके प्रभावसे भारतमे विनयको दुर्गुण माना



जाने लगा है और विनयीको खुशामदी । किन्तु विनय मतलबसे नहीं की जाती । गुणनुरागसे की जाती है । स्वार्थसे प्रेरित विनय विनय नहीं है ॥६१॥

आगे कहते हैं--इष्ट सदगुणोका एकमात्र साधन विनय है--

आर्यता, कुलीनता आदि गुणोसे युक्त इस उत्तम मनुष्य पर्यायका सार अर्हदरू प सम्पत्ति अर्थात् जिनरू प नग्नता आदिसे युक्त मुनिपद धरण करना है । और इस अर्हदरू प सम्पदाका सार अर्हन्त भगवानपकेद्वारा प्रतिपादित जिनवाणीकी शिक्षा प्राप्त करना है । इस आर्हती शिक्षाका सार सम्यकविनय है । और इस विनयमे सत्पुरु षोके द्वारा चाहने योग्य समाधि आदि गुण है । इस तरह विनय जैनी शिक्षाका सार और जैन गुणोका मूल है ॥६२॥

आगे कहते हैं कि विनयहीनकी शिक्षा विफल है--

जैनी शिक्षासे हीन पुरु श्जका जिनलिंग धारण करना नटकी तरह आत्मविडम्बना मात्र है । जैसे कोई नट मुनिका रू प धारण कर ले तो वह हँसीका पात्र होता है वैसे ही जैन धर्मके ज्ञानसे रति पुरु षका जिनरू प धारण करना भी है । तथा विनयसे रहित मनुष्यकी शिक्षा भी दुर्जनकी मित्रताके समान निष्फल है या उसका फल बुरा ही होता है ॥६३॥

अथ विनयस्य त्वार्थमतेन चातुर्विध्यमाचारादशस्त्रमतेन च पच्चविधत्वं स्यादित्युपदिशति--

दर्शनज्ञानचारित्रगोचरश्चौपचारिकः ।

चतुर्ध विनयोवाचि पच्चमोपि तपोगतः ॥६४॥

औपचारिकः--उपचारे धर्मिकचित्तानुग्रहे भवस्तत्प्रयोजनो वा । विनयादित्वात् स्वार्थिको वा वणु (?) । पच्चमोपि । उक्तं च--

ध्दंसणणाणे विणओ चरित्त तब, ओवचारिओ विणओ ।

पंचविधो खलु विणओ पंचमगइणाइगो भणिओ ॥ड [ मूलाचार, गा. ३६७ ] ॥६४॥

अथ सम्यक्त्वविनयं लक्षयन्नाह--

दर्शनविनयः शडाद्यसन्निधिः सोपगूहनादिविधिः ।

भक्त्यर्चावर्णहत्यानासादना जिनादिषु च ॥६५॥

शडाद्यसन्निधिः--शडा-काडक्षादिमलानां दूरीकरणं वर्जनमित्यर्थ । भक्तिः--अर्हदादीनां गुणानुरागः । अर्चा--द्रव्यभावपूजा । वर्णः--विदुषां परिषदि युक्तिबलाद्यशेजननम । अर्वाहतिः--माहत्म्यसमर्थ-नेनासदभूतदोषोदावनाशनम । अनासादना--अवज्ञानिवर्तमादरकरणमित्यर्थः ॥६५॥

अथ दर्शनविनयदर्शनाचारयोर्विभागनिर्ज्ञानार्थमा--

दोषोच्छेदे गुणाधने यत्नो हि विनयो दृशि  
दृगाचारस्तु तत्त्वार्थरू चौ यत्नो मलात्यये ॥६६॥

मलात्यये--शडाद्यभावे सति । सम्यग्दर्शनादीना हि निर्मलीकरणे यत्नं विनयमाहुः । तेष्वेव च निर्मलीकृतेषु यत्नमाचारक्षते ॥६६॥

आगे विनयके तत्त्वार्थसूत्रके मतसे चार और आचार शास्त्रके मतसे पाँच भेद कहते हैं--

तत्त्वार्थशास्त्रके विचारकोने दर्शनविनय, ज्ञानविनय, चारित्रविनय और उपचार विनय, इस प्रकार चार भेद विनयके कहे हैं । और आचार आदि शास्त्रके विचारकोने तपोविनय नामक एक पाँचवें भेद भी का है ॥६४॥

विशेषार्थ--तत्त्वार्थ सूत्रमे विनयके चार भेद कहे हैं और मूलाचारमे पाँच भेद कहे हैं ॥६४॥

दर्शनविनयको कहते हैं--

शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टि प्रशंसा और अनायतन सेवा इन अतीचारोको दूर करना दर्शनकी विनय है । उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना गुणोसे उसे युक्त करना भी दर्शनविनय है । तथा अर्हन्त सिद्ध आदिके गुणोमे अनुरागरूप भक्ति, उनकी द्रव्य और भावपूजा, द्विनोकी सभामे युक्तिके बलसे जिनशासनको यशस्वी बनाना, उसपर लगाये मिथ्या लांछनोको दूर करना, उसके प्रति अवज्ञाका भाव दूर कर आदर उत्पन्न करना ये सब भी सम्यग्दर्शनकी विनय हैं ॥६५॥

आगे दर्शनविनय और दर्शनाचारमे अन्तर बतलाते हैं--

सम्यग्दर्शानमे दोषोको नष्ट करनेमे और गणोको लानेमे जो प्रयत्न किया जात है वह विनय है, और दोषोके दूर होनेपर तत्त्वार्थश्रद्धानमे जो यत्न है वह दर्शनाचार है । अर्थात्

घविनयादेः ङ इत्यनेन स्वार्थिकेठणि सति ।--भ. कु. च. ।

भ. आरा., गा. ७४४ ।

अथाष्टधा ज्ञानविनयं विधेयतयोपदिशति--

शुध्दव्यज्जनवाच्यतदद्वयतया गर्वादिनामाख्यया

योग्यावग्रहधरणेन समये तदभाजि भक्त्यापि च ।

यत्काले विहिते कृताज्जलिपुटस्याव्यग्रबुध्देः शुचेः

सच्छास्त्राध्ययनं स बोधविनयः साध्योष्टधापीष्टदः ॥६७॥

शुध्देत्यादि--शब्दार्थतदुभयावैपरीत्येन

।

गुर्वादिनामाख्यया--

उपाध्यायचिन्तापकाध्येतव्यनाधेयकथनेन । योग्यावग्रहधारोने--यो यत्र सूत्रेध्येतव्ये तपोविशेष

उक्तस्तदवलम्बनेन । समये--श्रुते । तद्धाजि--श्रुतधरे । विहितेइस्वाध्यायवेलालक्षणे । सच्छास्त्राध्ययनं--  
उपलक्षणाद गुणनं व्याख्यानं शास्त्रदृष्ट्याचरणं च ॥६७॥

अथ ज्ञानविनयज्ञानाचारयोर्विभागनिर्णयार्थमाह--

सम्यग्दर्शन आदिकेनिर्मल करनेमे जो यत्न है वह विनय है और उनकेनिर्मल होनेपर उन्हें विशेष रूपसे  
अपनाना आचार है ॥६६॥

आगे आठ प्रकारकी ज्ञानविनयको पालनेका उपदेश देते हैं--

शब्द, अर्थ और दोनो अर्थात् शब्दाथकी शुद्धतापूर्वक, गुरु आदिका नाम न छिपाकर तथा जिस  
आगमका अध्ययन करना है उसकेलिए जे विशेष तप बलाया है उसे अपनाते हुए, आगममे तथा आगमके  
ज्ञाताओमे भक्ति रखते हुए स्वाध्यायके लिए शास्त्रविहित कालमे, पीछी सहित दोनो हाथोको जोडकर,  
एकाग्रचित्तसे मन-वचन-कायकी शुद्धिपूर्वक, जो युक्तिपूर्ण परमागमका अध्ययन, चिन्तन, व्याख्यान  
आदि किया जाता है वह ज्ञानविनय है । उसकेआठ भेद है जो अभ्युदय और मोक्षरूपी फलाके देनेवाले  
है । मुमुक्षुको उसे अवश्य करना चाहिए ॥६७॥

विशेषार्थ--सम्यग्दर्शनकी तरह सम्यग्ज्ञानके भी आठ अंग हैं--व्यंजनशुद्धि, वाच्यशुद्धि,  
तदुभयशुद्धि, अनिहव, उपधान, कालशुद्धि, विनय और बहुमान । व्यंजन अर्थात् शास्त्रवचन शुद्ध होना  
चाहिए, पढते समय कोई अक्षर छूटना नही चाहिए, न अशुद्ध पढना चाहिए । वाच्य अर्थात् शास्त्रका अर्थ  
शुद्ध करना चाहिए । तदुभयमे वचन और उसका अर्थ दोनो समग्र और शुद्ध होने चाहिए । जिस  
गुरु से अध्ययन किया हो, जिनके साथ ग्रन्थका चिन्तन किया हो तथा जिस ग्रन्थका अध्ययन और चिन्तन  
किया हो उन सबका नाम न छिपाना अनिहव है । आचारांग आदि द्वादशांग और उनसे सम्बद्ध अंग  
बाह्य ग्रन्थोके अध्ययनकी जो विधि शास्त्रविहित है, जिसमे कुछ तप आदि करना होता है उसके साथ  
श्रुतका अध्ययन उपधान है । कुछ ग्रन्थ तो ऐसे होते हैं जिनका स्वाध्याय कभी भी किया जाता है किन्तु  
परमागमकेअध्ययनकेलिए स्वाध्यायकाल नियत है । उस नियत समयपर ही स्वाध्याय करना कालशुद्धि  
है । मन-वचन-कायकी शुद्धि, दोनो हाथ जोडना आदि विनय है, जिनागममे और उसके धारकोमे  
श्रद्धाभक्ति होना बहुमान है । इस तरह आठ अंग सहित सम्यग्ज्ञानकी आराधना करनेसे स्वर्ग और  
मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥६७॥

आगे ज्ञानविनय और ज्ञानाचारमे क्या भेद है ? यह बतलाते हैं--

यत्नो हि कालशुद्धयादौ स्याज्ज्ञानविनयोत्र तु ।

सति यत्नस्तदाचारः पाठे तत्साधनेषु च ॥६८॥

अत्र--कालशुद्धयादौ सति । पाठेश्श्रुताध्ययने । तत्साधनेषु--पुस्तकादिषु ॥६८॥

अथ चारित्रविनयं व्याचष्टे--

रु च्यारच्यहषीकगोचररतिद्वेषोज्जनेनोछलत

क्रोधादिच्छिदयासकृत्समितिषूद्योगेने गुप्त्यासया ।  
सामान्येतरभावनापरिचयनापि व्रतान्युध्दरन  
धन्यः साधयते चारित्रविनयं श्रेयः श्रियः पारयम ॥६९॥

रू च्याः--मनोज्ञाः । गुप्त्यास्थया--शुभमनोवाक्क्यक्रियस्वादरेण । सामान्येतरभावनान्नासामान्येन  
माभूत कोपीह दुःखीत्यादिना । विशेषेण च निगृतो वाडमनसी इत्यादिना ग्रन्थेन प्रागुक्ताः । पारयं--समर्थ  
पोषकं वा ॥६९॥

अथ परित्राविनयतदाचारयोर्विभागलक्षणार्थमाह--

समित्यादिषु यत्नो हि चारित्रविनयो मतः ।  
तदाचारस्तु यस्तेषु सत्सु यत्नो व्रताश्रयः ॥७०॥

स्पष्टम् ॥७०॥

---

कालशुद्धि, व्यंजनशुद्धि आदिके लिए जो प्रयत्न किया जाता है वह ज्ञानविनय है । और  
कालशुद्धि आदिके होनेपर जो श्रुतके अध्ययनयमे और उसके साधक पुस्तक आदिमे यत्न किया जाता है  
वह ज्ञानाचार है । अर्थात् ज्ञानके आठ अंगोंकी पूर्तिके लिए प्रयत्न ज्ञानविनय है और उनकी पूर्ति होनेपर  
शास्त्राध्ययनके लिए प्रयत्न करना ज्ञानाचार है ॥६८॥

चारित्रविनयको कहते हैं--

इन्द्रियोंके रू चिकर विषयोमे रागको और अरू चिकर विषयोमे द्वेषको त्याग कर, उत्पन्न हुए  
क्रोध, मान, माया और लोभका छेदन करके, समितियोंमे बारम्बार उत्साह करके, शुभ मन-वचन-कायकी  
प्रवृत्तियेमे आद रखते हुए तथा वतकी सामाय और विशेष भावनाओकेद्वारा अहिंसा आदि व्रतोंको निर्मल  
करता हुआ पुण्यात्मा साधु स्वर्ग और मोक्षलक्ष्मीकी पोषक चारित्र विनयको करता है ॥६९॥

विशेषार्थ--जिनसे चारित्रकी विराधना होती है या चारित्रको क्षति पहुँचती है उन सबको दूर  
करके चारित्रको निर्मल करना चारित्रकी विनय है । इन्द्रियोंके विषयोको लेकर जो राग-द्वेष उत्पन्न होता  
है उसीसे क्रोधादि कषाय उत्पन्न होती है । और ये सब चारित्रके धातक है । अतः सर्वप्रथम तो  
इन्द्रियोंकी प्रवृत्तिपर अंकुश लगाना आवश्यक है । उसमे सफलता मिलनेपर क्रोधादि कषायोंको भी रोका  
जा सकता है । उनके साथ ही गुप्ति और समितियोंमें विशेष उद्योग करना चाहिए । और पहले जो  
प्रत्येक व्रतकी सामान्य और विशेष भावना बतलायी है उनका चिन्तन भी सतत रहना चाहिए । इस तरह  
ये सब प्रयत्न चारित्रकी निर्मलातमे कारण होनेसे चारित्रविनय कहा जाता है ॥६९॥

चारित्रविनय और चारित्रविनय क्या भेद है ? यह बतलाते हैं--

समिति आदिमे यत्नको चारित्रविनय कहते हैं । और समिति आदिके होनेपर जो महाव्रतोंमे यत्न  
किया जाता है वह चारित्राचार है ॥७०॥

अथ प्रत्यक्षपूज्यविषयस्यौपचारिक(विनयस्य) कायिकभेदं सप्तप्रकारं व्याकर्तुमाह--

अभ्युत्थानोचितवितरणोच्चासनाद्युज्जनानु-

ब्रज्या पोटाद्युपनयविधिः कालभावाडयोग्यः ।

कृत्याचारः प्रणतिरिति चाडेन सप्तप्रकारः

कार्यः साक्षाद गुरु षु विनयः सिद्धिकामैस्तुरीयः ॥७१॥

अभ्युत्थानं--आदरेणासनादेरुत्थानम् । उचितवितरणं--योग्यपुस्तकादिदानम् । उच्चासनादि--  
उच्चस्थानगमनादि । अनुब्रज्या--प्रस्थितेन सह किञ्चिद् गमनम् । कालयोग्यः--उष्णकालदिषु शीतादिक्रिया  
भांवाडयोग्यः प्रेषणादिकरणम् । अडयोग्यः--शरीरबलयोग्यं मर्दनादि । उक्तं च--

घण्डिरू वकायसंफासणदा पडिरू वकालकिरिया य ।

पेसणकरणं संधारकरणं उवकरणपडिलिहणं ॥७ [ मूलाचार, गा. ३७५ ]

प्रणतिरिति--इति शब्दादेवं प्रकारोऽपि सन्मुखगमनादिः । सप्रकारः । उक्तं च--

अह ओपचारिओ खलु विणओ तिविहो समासदो भणिओ ।

सत्त चउव्विह दुविहो बोधव्वो आणुपुव्वीए ॥७ [ मूलाचार, गा. ३८१ ] ॥७१॥

अथ तद्वाचिकभेदमाह--

हितं मितं परिमितं वचः सूत्रानुवीचि च ।

ब्रुवन पूजयाश्चतुर्भेदं वाचिकंविनयं भजेत ॥७२॥

हितं--धर्मसंयुक्तम् । मितं--अल्पाक्षरबहर्थम् । परिमितं--कारणसहितम् । सूत्रानुवीचि--

---

प्रत्यक्षमे वर्तमान पूज्य पुरु षोंकी काय सम्बन्धी औपचारिक विनयके सात भेद कहते हैं--

पूज्य गुरु जनोके साक्षात् उपस्थित होनेपर स्वात्मोपलब्धिरू प सिद्धिके इच्छुक साधुओको शरीरसे सात प्रकारका औपचारिक विनय करना चाहिए--१. उनके आनेपर आदरपूर्वक अपने आसनसे उठना । २. उनके योग्य पुस्तक आदि देना । ३. उनके सामने ऊँचे आसनपर नहीं बैठना । ४. यदि वे जावे तो उनके साथ कुछ दूरी तक जाना । ५. उनके लिए आसन आदि लाना । ६. काल भांवाड और शरीरकेयोग्य कार्य करना अर्थात् गर्मीका समय हो तो शीतलता पहुँचानेका और शतीत्रु हो तो शीत दूर करनेका प्रयत्न करना । ७. प्रणम करना । इसी प्रकारकेअन्य भी काय कायिक उपचार विनय है ॥७१॥

विशेषार्थ--मूलचारमे कहा है--गुरु आदिके शरीरके अनुकूल मर्दन आदि करना, इसकी विधि यह है कि गुरु के समीपमे जाकर उनकी पीछीसे उनके शरीरको तीन बार पोछकर आगन्तुक जीवोको बाधान हो इस तरह आद पूर्वक जितना गुरु सह सके उतना ही मर्दन करे, तथा बाल वृद्ध अवस्थाके अनुरुप वैयावृत्य करे, गुरु की आज्ञासे कही जाना हो तो जाये, धास वगैरहका सँथरा बिछावे और प्रातः सायं गुरु के उपकरणोका प्रतिलेखन करे। यह सब कायिक विनय है ॥७१॥

वाचिक औपचारिक विनयक भेद कहते है--

पूज्य पुरु षोकी चार प्रकारकी वाचिक विनय करना चाहिए--हित अर्थात धर्मयुक्त वचन बोले, मित अर्थात शब्द तो गिने चुने हो किन्तु महान अर्थ भरा हो, परिमित अर्थात

आगमविरु धं ( आगमार्थाविरु ध्दम ) । चशब्दाद भंगव-( न्नित्यादिपूजापुरस्सरं वचनं वाणिज्याद्यवर्णकं वाक्यं च ) ॥७२॥

निरु न्धन्नशुभं भावं कुर्वन प्रियहिते मतिम ।

आचार्यदेरवाप्नोति मानसं विनयं द्विधा ॥७३॥

( अशुभं.. . सम्यक्त्ववि- ) राधनप्राणिवधदिकम । प्रियहिते--प्रिये धर्मोपकारके हिते च सम्यक्त्वज्ञानादिके। आचार्यदेः--सूर्युपाध्यायसविप्रर्तकगणधादेः ॥७३॥

अथ पूज्येषु--दीक्षागुरु -श्रुतगुरु -तपोधिकेषु । अपिशब्दात् तपोगुणवयः कनिष्ठेष्वार्थेषु श्रावकेषु च यथाह विनयकरणं लक्षयति । यथाहुः--

घ्रादिणिण उणरादिणिण सु अ अज्जा सु चव गिहिवग्गे ।

विणओ जहारिो सो कायव्वो अप्पमत्तेण ॥ड [ मूलाचार, गा. ३८४ ]

रादिणिण--रात्र्यधिके दीक्षागुरौ श्रुतगुरौ तपोधिके चेत्यर्थः । उण रादिणिणसु ऊनरात्रेषु तपसा गुणैर्वयसा च कनिष्ठेषु साधुष्वित्यर्थः ॥७४॥

कारण होनेपर ही बोले, तथा आगमसे अविरु ध्द बोले । घ्द शब्दसे भगवानकी नित्य पूजा आदिसे सम्बद्ध वचन बोले और व्यापार आदिसे सम्बद्ध वचन न बोले ॥७२॥

मानसिक औपचारिक विनयके भेद कहते है--

आचार्य आदिके विषयमे अशुभं भावोको रोकता हुआ तथा धर्मोपकारक कार्योमे और सम्यग्ज्ञानादिक विषयमे मनको लगाता हुआ मुमुक्षु दो प्रकारकी विनयको प्राप्त होता है । अर्थात मानसिक विनयके दो भेद है--अशुभ भावोसे निवृत्ति और शुभं भावोमे प्रवृत्ति ॥७३॥

विशेषार्थ--मूलचारमे कहा है--संक्षेपमे औपचारिक विनयके तीन भेद है--कायिक, वाचिक और मानसिक । कायिकके सात भेद है, वाचिकके चार भेद है और मानसिकके दो भेद है । दशवैकालिक ( अ. ९ ) मे भी वाचिकके चार तथा मानसिकके दो भेद कहे है किन्तु कायिकके आठ भेद कहे है ॥७३॥

आगे परोक्ष गुरु आदिके विषयमे तीन प्रकारकी औपचारिक विनय कहते है--

जो दीक्षागुरु , शास्त्रगुरु और तपस्वी पूज्य मन सामने उपस्थित नहीं है, उनके सम्बन्धमे वचन, मन और कायसे तीन प्रकारकी विनय करनी चाहिए । वचनसे उनका स्तवन आदि करना चाहिए, मनसे उने गुणेका स्मरण-चिन्तन करना चाहिए और कायसे परोक्षमे भी उन्हे हाथ जोडकर प्रमाण आदि करना चाहिए । अपि शब्दसे तात्पर्य है कि जो अपनेसे तपमे, गुणमे और अवस्थामे छोटे है उन साधुओमे तथा श्रावकोमे भी यथायोग्य विनय करना चाहिए ॥७४॥

भ. कु. च. ।

भ. कु. च. । ध्मगव इत्यतो गे लिपिकारप्रमादेनाग्रिमश्लोकस्य भागः समागत इति प्रतिभाति ।

पडिरू वे खलु विणओ काइयजोए य वाय माणसिओ ।

अठठ चउव्विह दुविहो परू वणा तस्सिया होई ॥

अथ तपोविनयमाह--

यथोक्तमावश्यकमावहन सहन परीषहानग्रगुणेषु चोत्सहन ।

भजंस्तपोवृद्धपांस्यहेलयन तपोलघूनेति तपोविनीतताम ॥७५॥

आवश्यकं-अवशस्य कर्म व्याध्यादिपरवशेनापि क्रियत इति कृत्वा । अथवा अवश्यस्य रागादिभिरनायत्तीकृतस्य कर्म इति विगृह्य च्छन्द्रमनोज्ञादेःऽ इत्यनेन वुन्न । अग्रगुणेषु--उत्तरगुणेष्व्वातपनादिषु संयमविशेषेषु वा उपरिमुणस्थानेषु वा । तपोवृद्धाः--तपांसि वृद्धानि अधिकानि येषां न पुनस्तपसा वृद्धा इति, अलुकप्रसंगात् । अहेडयन--अनवजानन । स्वस्मात्तपसा हीनानपि याथस्वं संभवयन्नित्यर्थः ॥७५॥

अथ विनयभावनाया फलमाह--

ज्ञानलाभार्थमाचारविशुद्धयर्थ शिवार्थिभिः ।

आराधनादिसंसिद्धयै कार्य विनयभावनम ॥७६॥

स्पष्टम ॥७६॥

अथाराधनादीत्यत्रदिशब्दसंगृहीतमर्थजमतं व्याकर्तुमाह--

द्वारं यः सुगतर्गणेशगणयेर्यः कार्मणं यस्तपो-

वृत्तज्ञानञ्जुत्वमार्दवयशःसौचित्यरत्नारवः ।

यः संक्लेशदवाम्बुदः श्रुतगुरु द्योतैकदीपश्च यः

स क्षेप्यो विनयः परं जगदिनाज्ञापारवश्येन चेत ॥७७॥

सुगतेः--मोदक्षस्य । द्वारं सकलर्मक्षयेतुत्वात् । स्वर्गस्य वा प्रचुरपुण्ययास्त्रविनिमित्त्वात् । कर्मण-  
-वशीकरणम् । सौचित्यं--गुर्वाद्यनुग्रहेण वैमनस्यनिवृत्तिः । संक्लेशः--रागादि । श्रुतं--आचारोक्तक्रमज्ञत्वं

विशेषार्थं--मूलाचारमे भी कहा है--जो अपनेसे बडे दीक्षा गुरु , शास्त्रगुरु और विशिष्ट तपस्वी  
है, तथा जो तपसे, गुणसे और अवस्थासे छोटे है, आर्यिकाएँ है, गृहस्थ है । उन सबमे भी साधुको  
प्रमाद छोडकर यथा योग्य विनय करना चाहिए ॥७४॥

तपोविनयका स्वरूप कहते है--

रोग आदि हो जानेपर भी जिनको अवश्य करना होता है अथवा जो कर्म रागादिको दूर करके  
किये जाते है उन पूर्वोक्त आवश्यकको जो पालता है, परीषहोको सहता है, आतापन आदि उत्तर गुणेमे  
अथवा ऊपरके गुणस्थानोमे जानेका जिसका उत्साह है, जो अपनेसे तपमे अधिक है उन तपोवृद्धोका  
और अनशन आदि तपोका सेवन करता है तथा जो अपनेसे तपमे हीन है उनकी भी अवज्ञा न करके  
यथायोग्य आदर करता है वह साधु तप विनयका पालक है ॥७५॥

आगे विनय भावनाका फल कहते है--

मोक्षके अभिलाषियोको ज्ञानकी प्राप्तिके लिए, पूच आचारोको निर्मल करनेके लिए और  
सम्यग्दर्शन आदिको निर्मल करना आदि रूप आराधना आदिकी सम्यक सिद्धिके लिए विनयको बराबर  
करना चाहिए ॥७६॥

ऊपरके श्लोकमे धाराधनादिङ्गमे आये आदि शब्दसे गृहीत अर्थको को कहते है--

जो सुगतिका द्वारा है, संघके स्वामी और संघको वशमे करनेवाली है, तप, चारित्र, ज्ञान,  
सरलता, मार्दव, यश और सौचित्यरूपी रत्नोका समुद्र है । संक्लेशरूपी दावाग्निके लिए मेघक तुल्य  
है, श्रुत और गुरु को प्रकाशित करनेके लिए उत्कृष्ट दीपकके समान है । ऐसी विनयको भी यदि  
आत्मद्वेषी इसलिए बुरी कहते है कि विनयी पुरुष तीनों लोकोकेनाथकी

कल्पज्ञत्वं च । क्षेप्यः--कुत्स्यो व्यपोहयो वा । जगदित्यादि--विनये हि वर्तमानो विश्वनाथाज्ञापरायतः  
स्यात् ॥७७॥

अथ निर्वचन (-लक्षित-) लक्षणे वैयावृत्ये तपसि मुमुक्षु प्रयुडक्ते--

क्लेशसंक्लेशनाशायाचार्यादिदशकस्य यः ।

व्यावृत्तस्तस्य यत्कर्म तद्वैयावृत्यमाचरेत् ॥७८॥



क्लेशः--कायपीडा । संक्लेशः--दुष्परिणामः । आचार्यदिदशकस्य--  
आचार्योपाध्यायतपस्विशौग्लान-गण-कुल-संध-साधु-मनोज्ञनाम । आचरन्ति यस्माद व्रतानीत्याचार्यः ।  
मोक्षार्थं शास्त्रमुपेत्य यस्मादधीयत इति उपाध्यायः । मोपवासाद्युष्ठायी तपस्वी । शिक्षाशीलः शैक्षः ।  
रू जा क्लिष्टशरीरो ग्लानः । स्थविरसन्ततिः गणः । दीक्षकाचार्यशिष्यसंस्त्यायस्त्रीपुरु संनरू पः कुलम  
। चातुर्वर्ण्यश्रमणनिवहः संधः । चिरप्रव्रजितः साधुः । लोसंमातो मनोज्ञः ॥७८॥

अथ वैयावृत्यफलमाह--

मुक्त्युद्युक्तगुणानुरक्तदयो यां कांचिदप्यापदं  
तेषां तत्पथधातिनी स्ववदवस्यन्योडवृत्याथवा ।  
योग्यद्रव्यनियोजनने शमयत्युदधोपदेशेन वा  
मिथ्यात्वादिविषं विकर्षति स खल्वार्हन्त्यमप्यर्हति ॥७९॥

---

आज्ञाके पराधीन हो जाता है तो इससी सिद्ध है कि विनयको अवश्य करना चाहिए । अर्थात्  
त्रिलोकनाथकी आज्ञाके अधीन होना ही विनयके महत्त्वको बतलाता है ॥७७॥

वैयावृत्य तपका निरू क्त सिद्ध लक्षण बतलाते हुए ग्रन्थकार मुमुक्षुओको उसके पालनके लिए  
प्रेरित करते हैं--

आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान, गण, कुल, संध, साधु और मनोज्ञ इन दस प्रकारके  
मुनियोके क्लेश अर्थात् शरीरिक पीडा और संक्लेश अर्थात् आर्त रौद्ररू प दुष्परिणामोका नाश करनेके  
लिए प्रवृत्त साधु या श्रावको कर्म--मन, वचन और कायका व्यापार करता है वह वैयावृत्य है, उसे करना  
चाहिए ॥७८॥

विशेषार्थ--व्यावृत्तके भावको वैयावृत्य कहते हैं अर्थात् उक्त दस प्रकारके साधुओके कायिक क्लेश  
और मानसिक संक्लेशको दूर करनेमे जो प्रवृत्त होता है, उसका कर्म वैयावृत्य कहाता है । जिनसे मुनि  
व्रत लेते हैं वे आचार्य होते हैं । जिन मुनियोके पास जाकर साधु आत्मकल्याणके लिए अध्ययन करते हैं  
वे उपाध्याय कहलाते हैं । महोपवास आदि करनेवाले साधु तपस्वी कहलाते हैं । नये दीक्षित साधुओको  
शैक्ष कहते हैं । जिनके शरीरमे रोग है उन्हें ग्लान कहते हैं । स्थविर साधुओकी परम्पराको गण कहते हैं  
। दीक्षा देनेवाले आचार्यकी शिष्य परम्पराको कुल कहते हैं । चार प्रकारके मुनियोके समूको संध कहते हैं  
। जिस साधुको दीक्षा लिये बहुत काल बीत गया है उसे साधु कहते हैं । और जो लोकमान्य साधु हो  
उसे मनोज्ञ कहते हैं । इन दस प्रकारके साधुओका वैयावृत्य करना चाहिए ॥७८॥

वैयावृत्यका फल कहते हैं--

जिस साधु या श्रावकका हृदय मुक्तिके लिए तत्पर साधुओके गुणेमे आसक्त है और जो इसीलिए  
उन साधुओपर मक्तिमार्गको धात करनेवाली दैवी, मानुषी, तैरश्ची अथवा

तेषां--मुक्त्युद्युक्तानाम । तत्पथधातिनी--मुक्तिमार्गोच्छेदिनी । अंगवृत्या--कायचेष्टया । अन्य-  
(योग्य) द्रव्यनियोजनेन--योग्यौषधान्नवसत्यादिरयोगेण । विकर्षति--दूरीकरोति ॥७९॥

अथ साधर्मिकविपदुपेक्षिणपे दोषं प्रकाश्य वैयावृत्यस्य तपोहृदयत्वं समर्थयते--

सधर्मापदि यः शेते स शेते सर्वसंपदि ।

वैयावृत्यं हि तपसो हृदयं ब्रुवते जिनाः ॥८०॥

हृदयं--अनतस्तत्वम ॥८०॥

भूयाऽपि तत्साध्यमाह--

समाध्याध्यानसानाथ्ये तथा निर्विचिकित्सता ।

सधर्मवत्सलत्वादि वैयावृत्येन साध्यते ॥८१॥

साध्यते--जन्यते ज्ञाप्यते वा । उक्तं च--

घृणाढ्ये पाठकेसाधै कृशे शैक्षे तपस्विनि ।

सपक्षे समनुज्ञते संधे चैव कुले गणे ॥

शय्यायामासने चोपगृहीते पठने तथा ।

आहारे चोषधे कायमलोज्जस्थापनादिषु ॥

मारीदुर्भिक्षचौराध्वव्यालराजनदीषु च ।

वैयावृत्यं यतेरक्तं सपरिग्रहरक्षणम ॥

बालवृद्धाकुले गच्छे तथा गुर्वादिपच्चके ।

वैयावृत्यं जिनैरु क्तं कर्तव्यं स्वशक्तितः ॥८ [ ]

---

अचेतनकृत कोई विपत्ति आनेपर, उसे अपने ही ऊपर आयी हुई जानकर शारीरिक चेष्टासे अथवा संयमके अविरोध औषधी, आहार, वसति आदिके द्वारा शान्त करता है, अथवा मिथ्या-दर्शन, मिथ्याज्ञान, अविरित, प्रमाद, कषाय और योगरू पी विषको प्रभांशली शिक्षाके द्वारा दूर करता है वह महात्मा इन्द्र, अमिन्द्र, चक्रवर्ती आदि पदोकी तो गिनती ही क्या, निश्चयसे तीर्थकर पदके भी योग्य होता है ॥७९॥

साधर्मियोपर आयी विपत्तियोकी उपेक्षा करनेवालेके दोष बतलाकर इस बातका समर्थन करते हैं कि वैयावृत्य तपका हृदय है--

जो साधर्मोपर आपत्ति आनेपर भी सोता रहता है--कुछ प्रतीकार नहीं करता, वह समस्त सम्पत्तिके विषयमे भी सोता है, अर्थात् उसे कोई सम्पत्ति प्राप्त नहीं होती । क्योंकि अर्हन्त देवने वैयावृत्यको बाह्य और अभ्यन्तर तपोका हृदय कहा है अर्थात् शरीरमे जो स्थिति हृदयकी है वही स्थिति तपोमे वैयावृत्यकी है ॥८०॥

पनः वैयावृत्यका फल बतलाते हैं--

वैयावृत्यसे एकाग्रचिन्ता निरोध रूप ध्यान, सनाथपना, ग्लानिका अभाव तथा साधर्मिवात्सल्य आदि साधे जाते हैं ॥८१॥

विशेषार्थ--किसी साधुपर ध्यान करते समय यदि कोई उपसर्ग या पीरषह आ जाये तो उसे दूर करनेपर साधुका ध्यान निर्विघ्न होता है। इससे वह सनाथता अनुभूव करता है कि उसी भी कोई चिन्ता करनेवाला है। इसी तरह रोगी साधुकी सेवा करनेसे ग्लानि दूर होकर निर्विचिकित्सा अंगा पालन होता है। इन सबसे साधर्मिवात्सल्य तो बढ़ता ही है।

गुणाढ्ये--गुणधिके। कृशे--व्याध्याक्रान्ते। शय्यायां--वसतौ। उपगृहीते--उपकारे आचार्य दिस्वीकृते वा। सपरिग्रहरक्षणं--संगृहीतरक्षोपेतम। अथवा गुणाढ्यादीनामागतानां संग्रहो रक्षा च कर्तव्येत्यर्थः। बालाः--नवकप्रव्रजिताः। वृद्धाः--तपोगुणवयोभिरधिकाः। गच्छे सप्तपुरुषसन्ताने गुर्वादिपच्चके आचार्योपाध्याप्रवर्तकस्थविरगणधरेषु ॥८१॥

अथ मुमुक्षोः स्वाध्याये नित्याभ्यासविधिपूर्वकं निरूक्तिमुखेन तदर्थमाह--

नित्यं स्वाध्यायमभ्यत्कर्मनिर्मूलनोद्यतः।

स हि स्वस्मै हितोऽध्यायः सम्यग्वाऽध्ययनं श्रुतेः ॥८२॥

हितः--संवरनिर्जराहेतत्वात् । सम्यगित्यादि--सुसम्यगाकेन्द्रलज्ञानोत्पत्तेः श्रुतस्याध्ययनं स्वाध्यायइत्यन्वर्थाश्रयणात् ॥८२॥

---

वैयावृत्यके सम्बन्धमे कहा है--गुणोमे अधिक उपाध्याय, साधु, दुर्बल या व्याधिसे ग्रस्त नवीन साधु, तपस्वी, और संघ कुल तथा गणकी वैयावृत्य करना चाहिए। उन्हे वसतिकामे स्थान देना चाहिए, बैठनेको आसन देना चाहिए, पठनमे सहायता करनी चाहिए तथा आहार, औषधमे, सहायोग करना चाहिए। मल निकल जाये तो उसे उठाना चाहिए। इसी तरह मारी, दुर्भिक्ष, चोर, मार्ग, सर्पदि तथा नदी आदिमे स्वीकृत साधु आदिकी रक्षाके लिए वैयावृत्य कहा है। अर्थात् जो मार्गगमनसे थका है, या चारोसे सताया गया है, नदीके कारण त्रस्त है, सिंह, व्याध आदिसे पीडित है, भूरी रोगसे ग्रस्त है, दुर्भिक्षसे पीडित है उन सबका संरक्षण करके उनकी सेवा करनी चाहिए। बाल और वृद्ध तपस्वियोसे आकुल गच्छकी तथा आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, प्रवर्तक और गणधर इन पाचोकी सर्वशक्तिसे वैयावृत्य करना चाहिये। ऐसा जिनदेवने कहा है ॥८१॥

अब मुमुक्षुको नित्य विधिपूर्वक स्वाध्यायका अभ्यास करनेकी प्रेरणा करते हुए स्वाध्यायका निरूक्तिपूर्वक अर्थ कहते हैं--

ज्ञानावरणदि कर्मोके अथवा मन वचन कायकी क्रियाके विनाशके लिए तत्पर मुमुक्षु को नित्य स्वाध्याय करना चाहिए। क्योंकि घस्वड अर्थात् आत्माके लिए हितकारक परमागम के अध्याय अर्थात् अध्ययनको स्वाध्याय कहते हैं। अथवा घस्वड अर्थात् सम्यक श्रुतके जब तक केन्द्रलज्ञान उत्पन्न हो तब तक अध्ययनको स्वाध्याय कहते हैं ॥८२॥

विशेषार्थ--स्वाध्याय शब्दकी दो निरू क्तियाँ है--स्व+अध्याय और सु+अध्याय । अध्यायका अर्थ अध्ययन है । स्व आत्माके लिए हितकार शास्त्रोका अध्ययन स्वाध्याय है क्योकि समीचीन शास्त्रोके स्वाध्यायसे कर्मोका सवरं और निर्जरा होती है । और घुसुड अर्थात् सम्यक शास्त्रोका अध्ययन स्वाध्याय है ॥८२॥

आइरियादिसु पंचसतु सवालवुडडाउलेसु गच्छेसु ।

वैयावच्चं वुत्तं कादव्वं सब्वसत्तीए ॥

गुणाधिए उवज्झए तवरिस्स सिस्से य दुव्वले ।

साहुगणे कुले संधे समणुण्णे य चापदि ॥

सेज्जोगासणिसेज्जो तहोवहिपडिलेहणाहि उवग्गहिदे ।

आहारोसहवायण विकिचिणं वंदणादीहि ॥--मूलाचार, ५।१९२-१९४

अथ सम्यकशब्दार्थकथनपरस्सरं स्वाध्यायस्याद्यं वाचनाख्यं भेदमाह--

शब्दार्थशुद्धता द्रुतविलम्बिताद्यूनता च सम्यक्त्वम् ।

शुद्धग्रन्थार्थोयदानं पात्रेस्य वाचना भेदः ॥८३॥

द्रुतेत्यादि--द्रुतमपरिभाव्य झटित्युच्चरितम् । बिलम्बितमस्थाने विश्रम्य विश्रम्योच्चरितम् । आदि शब्देनाक्षरपदच्युतादिदोषास्तदहीनत्वम् । वाचना--वाचनाख्यः ॥८३॥

अथ स्वाध्यायस्य प्रच्छनाख्यं द्वितीयं भेदं लक्षयति--

प्रच्छनं संशयोच्छित्यै निश्चिततद्रढनाय वा ।

प्रश्नोधीतिप्रवृत्त्यर्थत्वदधीतिरसावपि ॥८४॥

संशयोच्छित्यै--गन्थेर्त्थे तदुभये वा किमिदमित्थमन्यथा वेति सन्देहमुच्छेत्तुम् । निश्चिततद्रढनाय-- इदमित्थमेवेति निश्चितर्थे बलमाधत्तुम् । अधीतीत्यादि--अध्यनप्रवृत्तिनिमित्तत्वेन प्रश्नोप्यध्ययनमित्युच्यते, इति न सामान्यलक्षणस्याव्याप्तिरिति भावः ॥८४॥

अथवा मुख्य एव प्रश्ने स्वाध्यायव्यपदेश इत्याह--

किमेतदेवं पाठयं किमेषोर्थोस्येति संशये ।

निश्चितं वा द्रढयितुं पठति नो न वा ॥८५॥

एतद--अक्षरं पदं वाक्यादि । निश्चितं--पदमर्थं वा । पठति नो न--पठत्येवेत्यर्थः ॥८५॥

आगे घसम्यकड शब्दका अर्थ बतलाते हुए स्वाध्यायके प्रथम भेद वाचनाका स्वरूप कहते हैं--

शब्दकी शुद्धता, अर्थकी शुद्धता, विना विचारे न तो जल्दी-जल्दी पढना और न अस्थानमे रुक-रुककर पढना, तथा धादि शब्दसे पढते हुए अक्षर या पद न छोडना ये सब सम्यक्त्व या समीचीनता है । और विनय आदि गुणसे युक्त पात्रको शुद्ध ग्रन्थ, शुद्ध उसका अर्थ और शुद्ध ग्रन्थ तथा अर्थ प्रदान करना स्वाध्यायका भेद वाचना है ॥८३॥

स्वाध्यायके दूसरे भेद प्रच्छनाका स्वरूप कहते हैं--

ग्रन्थ, अर्थ और दोनोके विषयमे क्या यह ऐसा है या अन्यथा है इस सन्देहको दूर करनेके लिए अथवा यह ऐसा ही है इस प्रकारसे निश्चितको भी दृढ करनेके लिए प्रश्न करना पृच्छना है । इसपर यह शंका हो सकती है कि स्वाध्यायका लक्षण तो अध्ययन कहा है । यह लक्षण प्रश्नमे कैसे धटित होता है । प्रश्न तो अध्ययन नहीं है ? इसके समाधने लिए कहते हैं । प्रश्न अध्ययनकी प्रवृत्तिमे निमित्त है । प्रश्नसे अध्ययनको बल मिलता है इसलिए वह भी स्वाध्याय है ॥८४॥

विशेषार्थ--बहुत-से लोग स्वाध्याय करते हैं किन्तु कोई शब्द या अर्थ या दोनो समझमे न आनेसे अटक जाते हैं । यदि कोई समझानेवाला न हुआ तो उनकी गाडी ही रुक जाती है और स्वाध्यायका आनन्द जाता रहता है । अतः प्रश्न करना स्वाध्यायका मुख्य अंग है । मगर उस प्रश्न करनेके दो ही उद्येश होने चाहिए, अपने सन्देहको दूर करना और अपने समझे हुए को दृढ करना । यदि वह केवल विवादके लिए या पाण्डित्य प्रदर्शनके लिए है तो वह स्वाध्यायका अंग नहीं है ॥८४॥

आगे कहते हैं कि प्रश्नका स्वाध्याय नाम औपचारिक नहीं है मुख्य है--

क्या इसे ऐसे पढना चाहिए ? क्या इस पदका यह अर्थ है ? इस प्रकारका संशय होनेपर य निश्चितको दृढ करनेके लिए पूछने वाला क्या पढता नहीं है ? पढता ही है ॥८५॥

अथानुप्रेक्षाख्यं तद्विकल्पं लक्षयति--

सानुप्रक्षा यदभ्यासोधिगतार्थस्य चेतसा ।

स्वाध्यायलक्ष्म पाठोन्तर्जल्पात्मात्रापि विद्यते ॥८६॥

विद्यते--अस्ति प्रतीयते वा । आचारटीकारस्तु प्रच्छन्नशास्त्रश्रवणनुपेक्ष्य वान्त्यत्वाद्यनु चिन्तमिति व्याचष्टे ॥८६॥

अथाम्नायं धर्मोपदेशं च तदभेदमाह--

अम्नायो घोषशुद्धं यद वृत्तस्य परिवर्तनम ।

धर्मोपदेशः स्याद्धर्मकथा संस्तुतिमडला ॥८७॥

धोषशुद्ध--धोष उच्चारणं शुद्धो द्रुतविलम्बितादिदोषरहितो यत्र । वृत्तस्य--पठितस्य शास्त्रस्य ।  
परिवर्तन--अनूद्यवचनम् । संस्तुतिः--देववन्दना । मडल--पच्चनमस्काराशीः शान्त्यादिवचनादि । उक्तं  
च--

घपरियट्टणा य वायण पच्छणमणुपेहणा य धम्मकहा ।

शुदिमंगलसुत्तो पंचविहो होइ सज्झाओ ॥ड [ मूलाचार, गा. ३९३ ]

धर्मकथेति त्रिषष्टिशलाकापुरु षचरितानीत्याचारटीकयाम ॥८७॥

अथ धर्मकथायाश्चातुर्विध्यं दर्शयन्नाह--

---

विशेषार्थ--इस शब्द, पद या वाक्यको कैसे पढना चाहिये यह शब्दविषयक पृच्छा है और इस शब्द,  
पद या वाक्याका क्या अर्थ है, यह अर्थविषयक पृच्छा है । ग्रन्थकार कहते हैं जो ऐसा पूछता है क्या वह  
पढता नहीं है, पढता है तभी तो पूछता है । अतः प्रश्न करना मुख्य रूप से स्वाध्याय है ॥८५॥

स्वाध्यायके भेद अनुप्रेक्षाका स्वरूप कहते हैं--

जाने हुए या निश्चित हुए अर्थका मनसे जो बार-बार चिन्तन किया जाता है वह अनुप्रेक्षा है ।  
इस अनुप्रेक्षामे भी स्वाध्यायका लक्षण अन्तर्जल्प रूप पाठ आता है ॥८६॥

विशेषार्थ--वाचना वगैरहमे बहिर्जल्प होता है और अनुप्रेक्षामे मन ही मनमे पढने या विचारनेसे  
अन्तर्जल्प होता है । अतः स्वाध्यायका लक्षण उसमे भी पाया जाता है । मूलाचारकी टीकामे (५।१९६)  
अनित्यता अदिके बार-बार चिन्तनको अनुप्रेक्षा कहा है और इस तरह उसे स्वध्यायका भेद स्वीकार किया  
है ॥८६॥

आगे स्वाध्यायके अम्नाय और धर्मपदेश नामक भेदोका स्वरूप कहते हैं--

पढे हुए ग्रन्थके शुद्धतापूर्वक पुनःपुनः उच्चारणको अम्नाय कहते हैं । और देववन्दनाके साथ  
मंगल पाठपूर्वक धर्मका उपदेश करनेको धर्मकथा कहते हैं ॥८७॥

विशेषार्थ--पठित ग्रन्थको शुद्धता पूर्वक उच्चारण करते हुए कण्ठस्थ करना अम्नाय है ।

मूलाचारकी टीकामे तेरसठ शलाका पुरु षोके चारितको धर्मकथा कहा है अर्थात् उनकी चर्चा वार्ता  
धर्मकथा है ॥८७॥